स्व० ब्र० सीतलप्रसादजी स्मारक ग्रन्थमाला नं०:

श्रीवीतरागाय नमः

स्व० स्याद्वादवारिधि वादिराजकेशरी, न्यायवाचस्पति
गुरु गोपालदासजी बरैया विरचित—

जैन सिद्धान्तदर्पण

(जैनसिद्धान्त निरूपणका महान ग्रन्थराज)

प्रकाशक :—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
दिगम्बर जैन पुस्तकालय, गांधीचौक-सूरत-१

"जैनमित्र" के ६८ वें वर्षके ग्राहकोंको
स्व० ब्र० सीतलप्रसादजी स्मारक
ग्रन्थमालाकी ओरसे भेंट।

"जैनविजय" प्रि० प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास
कापड़ियाने मुद्रित किया।

मूल्य—तीन रुपये।

स्व. ब्र० शीतलप्रसादजी स्मारक ग्रन्थमाला नं. १९का निवेदन

करीब ६०-७० ग्रन्थोंके अनुवादक, टीकाकार, व संपादक, 'जैनमित्र' व 'वीर' के संपादक तथा रातदिन धर्मप्रचारके लिये भ्रमण करनेवाले श्री जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजी (लखनऊ) का स्वर्गवास जब ६५ वर्षकी आयुमें वीर सं० २४६८ विक्रम सं० १९९८ में लखनऊमें हो गया तब हमने आपकी धर्मसेवा व जातिसेवा 'जैनमित्र' द्वारा कायम रखनेको आपके नामकी ग्रन्थमाला निकालनेके लिये १००००) की अपील 'जैनमित्र' में प्रकट की थी तो उसमें ६०००) भरे गये थे तौभी हमने जैसेतैसे प्रबंध करके यह ग्रन्थमाला आजसे २४ वर्ष पूर्व प्रारम्भ की थी।

इस ग्रन्थमालामें प्रतिवर्ष १-१ ग्रन्थ 'मित्र' के ग्राहकोंको भेंट देनेका खर्च बहुत अधिक होता है अतः हमने 'जैनमित्र'के प्रत्येक ग्राहकसे प्रतिवर्ष १) अधिक लेनेकी योजना की थी जिससे ही यह ग्रन्थमाला चालू रह सकी है। व चालू रखना ही है।

इस ग्रन्थमाला द्वारा आजतक १८ जैन ग्रन्थ प्रकट करके 'जैनमित्र' के ग्राहकोंको भेंट कर चुके हैं जिनके नाम इसप्रकार हैं—

१. स्वतंत्रताका सोपान (ब्र० शीतल कृत) ३)

और अब यह १९ वां आध्यात्मिक ग्रन्थराज—

"" श्री जैन सिद्धांतदर्पण ""

जोकि स्व० पं० गोपालदासजी बरैया, मोरेना कृत उत्तम ग्रन्थ ३) के मूल्यका है। जो 'जैनमित्र' के ६८ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट स्वरूप दिया जाता है तथा कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं, आशा है कि इस आध्यात्मिक ग्रन्थकी दूसरी आवृत्तिका भी शीघ्र प्रचार हो जायगा। —प्रकाशक।

स्व० स्याद्वादवारिधि वादिगजकेशरी न्याय-वाचस्पति
पं० गोपालदासजी बरैया मोरेना

संक्षिप्त परिचय

स्व॰ पं॰ गोपालदासजी बरैया, मोरेना

आपका जन्म आगरामें सं॰ १९२३ में वरैया जातिमें एछिया गोत्रमें हुआ था। पिताका नाम लक्ष्मणदास था। मातासे आपने हिंदी व अंग्रेजी पढनेके बाद अजमेरमें संस्कृत व जैन धर्म सिद्धांतका अभ्यास किया था। भले कोई शास्त्रीय परीक्षा आपने पास नहीं की थी लेकिन आप इतने बड़े भारी जैन विद्वान व वक्ता तैयार हो गये थे कि बम्बई दि॰ जैन प्रांतिक सभासे स्याद्वाद वारिधि, जैनतत्व प्रकाशिनी सभा इटावासे वादिगजकेशरी और कलकत्ताके गवर्नमेंट संस्कृत कालेजके पंडितों द्वारा आपको 'न्याय वाचस्पति' की महान पदवियां, प्राप्त हुई थीं जो आज दि॰ जैन समाजमें एक ही हैं।

आजीवनार्थ आपने कई नौकरी व व्यापार साझेमें बम्बई, सोलापुर आदिमें किये थे लेकिन लक्ष था जैन सिद्धांत प्रचारका ही। बम्बई दि॰ जैन सभा व प्रांतिक सभा, महासभा, तीर्थक्षेत्र कमेटी, माणेकचन्द परीक्षालय आदिकी स्थापना आपने कराई थीं व मोरेनामें दि॰ जैन पाठशाला स्थापन कर उससे अनेक महा पंडित जैसे वि-पं॰ देवकीनंदनजी, पं॰ वंशीधरजी, पं॰ खूबचन्दजी, पं॰ लालारामजी, पं॰ मक्खनलालजी शास्त्री जैसे पंडित तैयार किये थे। आज तो यह संस्था गोपाल दि॰ जैन सिद्धांत विद्यालयसे विख्यात है व कार्यकर्ता पं॰ मक्खनलालजी विद्यालंकार शास्त्री हैं व लाख रु॰ का स्थायी फंड है। आप सत्य वक्ता व मोरेनामें आनररी मेजिस्टेट भी थे।

आपने ही इस "जैन सिद्धान्त दर्पण" शास्त्रकी अपूर्व रचना इस प्रकार की है कि इससे तत्वार्थ, गोम्मटसारादि तथा

धवलादि शास्त्र शीघ्र समझनेमें आ जाते हैं। तथा आपने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका ग्रन्थ विद्यार्थियोंके लिये वहुत उपयोगी बनाया है जो सर्वत्र पठनक्रममें चालू है और सुशीला उपन्यास नामक धार्मिक कथा ग्रन्थ भी आपकी ही रचना है। छोटे२ ट्रेक्ट तो आपने कई प्रकट कराये थे। व जैन भूगोल पर आपको पूर्ण श्रद्धा थी।

आपको अपनी पत्नीका सुख उनके कर्कश स्वभावके कारण नहीं था तौ भी आप घबराते नहीं थे।

आपकी स्मरणशक्ति विलक्षण थी। व स्वदेशीके आप प्रखर प्रचारक थे। आपने ही 'जैनमित्र' पत्र बम्बईसे चालू किया था जो ७ वर्ष मासिक फिर १० वर्ष पाक्षिक रहा था। फिर ब्र० सीतलप्रसादजी व हमारे सम्पादकत्वमें सूरतसे ५२ वर्षोंसे साप्ताहिकरूपमें प्रकट हो रहा है अतः बरैयाजीका यह पौधा जीता जागता व दि० जैन समाजमें अग्रगण्य पत्र है।

आपका स्वर्गवास ५१ वर्षकी आयुमें ही हो गया था। आप दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभाके बेलगाम अधिवेशनके प्रमुख हुए थे तब वहां हम भी गये थे और आपका लम्बा व्याख्यान बहुत ही रुचिकर अतिउत्तम हुआ था।

आपका शताब्दि महोत्सव इस वर्षमें मई मासमें देहलीमें हो गया था तब आपका सचित्र स्मारक ग्रन्थ भी प्रकट हुआ था जो आपकी कीर्तिके स्मारकरूप है व २०) में मिलता है। अतः बरैयाजीका विस्तृत परिचय इस ग्रन्थराजसे प्राप्त कीजिये।

वीर सं० २४९३
ता० १५-१०-६७

प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापडिया-सूरत

प्रथम आवृत्तिकी प्रस्तावना

यह जीव अनादिकालसे अनादिवद्ध जड़कर्मके वशीभूत, अपने स्वाभाविक भावोंसे च्युत चतुर्गति संवंधी घोर दुःखोंसे व्याकुलित चित्त, मोह निद्रामें निमग्न, पाप-पवनके झकोरोंसे कभी उछलता और कभी डूवता, विकराल अपार संसार-सागरमें वनमें व्याघ्रसे भयभीत मृगीकी नाई, इतस्ततः परिभ्रमण कर रहा है।

जवतक यह जीव निगोदादिक विकल चतुष्क पर्यन्त मनोज्ञान शून्य भवसमुद्रके मध्य प्रवाहमें अगृहीत मिथ्यात्वकी अविकल तरङ्गोंसे व्यग्र कर्मफल चेतनाका अनुभव करता हुवा स्वपर भेद-विज्ञान विमुख ज्ञानचेतनासे कोसों दूर, दुःखरूप पर्वनोंसे टकरातर टकराता अपनी मौतके दिन पूरे करता फिरता है, तवतक ये प्रश्न उसको स्वप्नमें भी नहीं उठते कि, मैं कौन हूँ? मेरा असली स्वरूप क्या है?

मैं इस संसारमें दुःख क्यों भोग रहा हूँ? मैं इन दुःखोंसे छूट सकता हूं या नहीं? क्या अवतक कोई भी इन दुःखोंसे छूटा है? क्या इन दुःखोंसे छूटनेका कोई मार्ग वता सकता है? इत्यादि विचार उत्पन्न होनेका वहाँ कोई साधन ही नहीं है। दैवयोगसे कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्थाको प्राप्त होकर भी तिर्यञ्च तथा नरकगतिमें निरन्तर दुःख घटनाओंसे विह्वल होनेके कारण और देवगतिमें विषम विषसमान विषय भोगोंमें तल्लीनताके कारण आत्म-कल्याणके सन्मुख ही नहीं होता।

मनुष्य भवमें भी वहुतसे जीव तो दरिद्रताके चक्करमें पडे हुए प्रातःकालसे सायंकालतक जठराग्निको शमन करनेवाले अन्नदेवताकी उपासनामें ही फंसे रहते हैं, और कितने ही लक्ष्मीके लाल अपनी पाणिगृहीत कुलदेवीसे उपेक्षित होकर धनललनाओंकी सेवाशुश्रूषामें ही अपने इस अपूर्वलब्ध मनुष्य जन्मकी सफलता समझते हैं। इतना होनेपर भी कोई कोई

महात्मा इस मनुष्य शरीरसे रत्नत्रयधर्मका आराधनकरके अविनाशी मोक्ष—लक्ष्मीका अपूर्व लाभ उठाकर सदाके लिये लोक—शिखरपर विराजमान हो अमर पदको प्राप्त होते हैं।

ऊपर लिखे हुए सब राग अलापनेका सारांश यह है, कि इस संसारमें भ्रमण करते करते यह मनुष्य जन्म बड़ी दुर्लभतासे मिला है। इसलिये इसको व्यर्थ न खोकर हमारा कर्तव्य यह है कि यह मनुष्यभव संसार—समुद्रका किनारा है, यदि हम प्रयत्नशील होकर इस संसार—समुद्रसे पार होना चाहें, तो थोड़ेसे परिश्रमसे हम अपने अभीष्ट फलको प्राप्त कर सकते हैं। यदि ऐसा मौका पाकर भी हम इस ओर लक्ष्य न देंगे तो संभव है, कि फिर हम इस अथाह समुद्रके मध्य प्रवाहमें पड़कर डांवाडोल हो जांय। संसारमें समस्त प्राणी सदा यह चाहते रहते है, कि हमको किसी प्रकार सुखकी प्राप्ति होवे, तथा सदा उसके प्राप्त करनेका ही उपाय करते रहते है।

ऐसा कोई भी प्राणी न होगा जो अपनेको दुःख चाहता हो, इनकी जितनी भी इच्छा व प्रयत्न होते हैं, वे सब एक सुखकी प्राप्तिके लिये ही होते हैं। परन्तु ऐसा होनेपर भी जिस किसीसे भी पूंछा जाय, हरएकसे यही उत्तर मिलेगा कि संसारमें मेरे समान शायद ही कोई दूसरा दुःखी हो। संसारमें कोई भी ऐसा नहीं होगा, जिसे सब तरहसे सुख हो, इसका मूल कारण यह है, कि संसारमें दरअसल सुख है ही नहीं। सुख वहीं है जहांपर असुख कहिये दुःख यानी आकुलता नहीं है। संसारमें जिसको सुख मान रक्खा है, वह सब आकुलताओंसे घिरा हुआ है। सच्चा सुख मोक्ष होनेपर आत्मासे कर्म—बन्धनके छूटनेपर सर्वतंत्र स्वतंत्र होनेमें है। क्योंकि जबतक यह जीव कर्मोंसे जकड़ा हुआ है तबतक पराधीन है और "पराधीन सपने सुख नाहीं" जबतक पराधीनता छोड़ स्वाधीनता आत्माका

असली स्वभाव प्राप्त नहीं होता, तबतक सुख होवे तो होवे कहांसे ?

इसलिये सच्चा सुख मोक्षमें है, और उसके होनेका उपाय पूर्वाचार्योंनें यों बतलाया है कि " सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र इन तीनोंकी एकता ही मोक्षका मार्ग है, परन्तु इसका भी जानना जैन-सिद्धांतके रहस्य जाननेके आधीन है।

जैन सिद्धान्तके रहस्य जाने विना यह मोक्षके उपायोंको नहीं जान सकता है। किसी एक टापूमें बहुतसे जंगली आदमी रहा करते थे, जो कि इतने अज्ञान और भोलेभाले थे कि जरासी भी अनोखी बातके होने पर घबड़ा जाते थे, बिचारे दिनभर काम करते थे और सायंकाल होनेके पहले ही पहिल सो जाते थे; इसलिये अन्धकारका नाम भी नहीं जानते थे।

एक दिन सर्वग्रासी सूर्यग्रहण पड़नेके कारण यहाँ दिनमें भी चारों तरफ अन्धकार व्याप्त हो गया, इसको देखकर वे लोग बहुत घबड़ाये और राजाके पास दौड़ते गए और चिल्लाने लगे। राजाने चिल्लाहटको सुनकर हाल दर्यापत्त करने पर फौजको ले जानेका हुक्म दिया, फौज इधर उधर दौड़ने लगी। वह विचारी क्या करती ? अन्धकार दूर न हुआ और वे फिर भी राजाके पास पहुंचे। राजाने और भी फौज ले जानेकी आज्ञा दी, वह भी जंगलोंमें आई और इधर उधर तोपगोला छोड़ने लगी. उसी फौजमेंसे कितने ही घोड़ा दौड़ाने लगे, कितने ही तलवार फिराने लगे, गरज यह कि सब अपने अपने हाथ दिखाने लगे। दूसरी बार उनके जानेपर राजा जंगलोंमें आया और उसके धकेलनेका प्रयत्न करने लगा परन्तु कुछ भी न हो सका।

इतनेमें कोई द्वीपान्तरका मनुष्य यहाँ होकर निकला और इस आन्दोलनका कारण पूछा—पूछनेसे उसे सब हाल मालूम हो गया। और उसने सबको आश्वासन दिया और धैर्य बंधाया

और कहा कि ये सब अभी हम दूर किये देते हैं। सुनते ही लोग राजाके पास इस संतोषप्रद समाचारको सुनानेके लिये दौड़े गये। राजाने सुनकर उसके पास जानेका इरादा किया और शीघ्र ही आ पहुँचा और उससे अन्धकार हटानेकी प्रार्थना की।

राजाकी प्रार्थनाको सुनकर उस द्वीपान्तरमें रहनेवाले मनुष्यने तैल वत्ती दीपक लानेके लिये कहा। सब सामानके आ जानेपर उसने अपने जेबमेंसे पड़ी हुई दियासलाईको निकालकर दीपक जला प्रकाश कर दिया, जिससे कि वहांका अन्धकार दूर होगया।

ठीक इस ही तरह समस्त संसारके प्राणी अज्ञानरूपी अन्धकारसे आकुलित हुए इधर उधर दौड़ धूप मचाते हैं, परन्तु सच्चे सुखका रास्ता नहीं पाते। विना जैन सिद्धान्तके रहस्यके जाने यह जीवोंका अनादिकालसे लगा हुआ अज्ञानांधकार दूर नहीं हो सकता है। यद्यपि जैन सिद्धान्तका रहस्य प्रगट करनेवाले वड़े बड़े श्री कुन्दकुन्दाचार्य समान महाचार्य आदि महर्षियोंके वनाये हुए अब भी अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं, परन्तु उनका असली ज्ञान प्राप्त करना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य जरूर है।

इसलिये जिस तरह सुचतुर लोग जहाँ पर कि सूर्यका प्रकाश नहीं पहुंच सकता, वहाँ पर भी बड़े बड़े चमकीले दर्पण आदिके पदार्थोंके द्वारा रोशनी पहुँचाकर अपना काम चलाते हैं। उस ही तरह उन जैन सिद्धान्तोंके पूर्ण प्रकाशको किसी तरह इन जीवोंके हृदय-मंदिरमें पहुंचानेके लिये जैन सिद्धान्त दर्पणकी अत्यन्त आवश्यकता है। शायद आपने ऐसे पहलदार दर्पण (शैरवीन) भी देखे होंगे कि जिनके द्वारा उलट फेरकर देखनेसे भिन्न भिन्न पदार्थोंका प्रतिभास होता है, उस

ही तरह इस जैन सिद्धान्त दर्पणके भिन्न भिन्न अधिकारों द्वारा आपको भिन्न भिन्न प्रकारके सिद्धान्तोंका ज्ञान होगा।

मैंने यद्यपि अपनी बुद्धिके अनुसार यथासाध्य त्रुटि न रखनेका प्रयत्न किया है। किन्तु सम्भव है कि छद्मस्थ होनेके कारण अनेक त्रुटियाँ रह गई होंगी। इसलिये सज्जन महाशयोंसे प्रार्थना है कि मुझको मंदबुद्धि जानकर क्षमा करें।

वीर सं० २४५४ }
ई० सन् १९२८ }

निवेदक—
गोपालदास बरैया।

विषय-सूची

नमः श्रीवीतरागाय ।

स्व० स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी
बरैया रचित

जैन सिद्धांतदर्पण

प्रथम अधिकार

(लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप निरूपण)

मंगलाचरण

नत्वा वीरजिनेन्द्रं, सर्वज्ञं मुक्तिमार्गनेतारम् ।
बालबोधनार्थं जैनं सिद्धान्तदर्पणं वक्ष्ये ॥

पदार्थोंके विशेष स्वरूपका विचार लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेपके जाने विना नहीं हो सकता, इस कारण पहले पहल इनका ही निरूपण किया जाता है, उसमें भी उद्देशके अनुसार सबसे पहले लक्षणका संक्षेप स्वरूप लिखा जाता है।

"लक्ष्यते व्यावर्त्यते वस्त्वनेनेति लक्षणम्"—जिसके द्वारा

वस्तु अलग मालूम हो, इस निरुक्तिके अर्थको हृदयमें रखकर ही स्वामी श्री अकलङ्कदेवने तत्वार्थवार्तिकालंकारमें यों कहा है कि "परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।" बहुतसी वस्तुओंका मेल होनेपर जिसके द्वारा विवक्षित वस्तुकी व्यावृत्ति-जुदाई की जाय, अर्थात् मिले हुए अनेक पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थको भिन्न करनेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं। जैसे गायका लक्षण सास्नामत्व, (गायके गलेमें जो नीचे लटकती हुई खालका कवल होता है) यह अन्य जो घोड़ा गधा ऊंट वगैरहमें नहीं पाया जाता। किन्तु गायमें ही पाया जाता है, ऐसा होते हुए वह उनसे गायको जुदा करनेमें कारण है, इस लिए गायका लक्षण है। वह लक्षण दो प्रकारका है—

एक आत्मभूत, दूसरा अनात्मभूत। जिस लक्षणका लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जाय) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो, उसे आत्मभूत कहते हैं, जैसे अग्निका लक्षण उष्णपना। यह उष्णपना अग्निका आत्मभूत लक्षण है कारण कि उष्णपनेका अग्निके साथ तादात्म्य सम्वन्ध (जिनकी सत्ता भिन्न भिन्न नहीं ऐसे दो व अनेक पदार्थोंके सम्बन्धको तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं) है और जिस लक्षणका लक्ष्यके साथ संयोग सम्बन्ध हो अर्थात् जो वस्तु (लक्ष्यभूत वस्तु) का स्वरूप न होकर भी केवल मात्र अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति करनेका कारण हो उसको अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे पुरुषका लक्षण दंड।

यह "दंड" कोई पुरुषका स्वरूप नहीं है, परन्तु अन्य विना दंडवाले पुरुषोंसे व्यावृत्ति करनेका कारण है, इसलिए यह पुरुषका अनात्मभूत लक्षण है। पदार्थका जो लक्षण किया जाय, उसे ऐसा होना चाहिए जो उसके (जिसका कि लक्षण किया गया है) सिवाय अन्य दूसरे पदार्थोंमें न रहकर उसके

सब देशोंमें रहे; ऐसा न होनेसे वह लक्षण न कहलाकर सदोष लक्षण यानी लक्षणाभास कहलाता है, जिससे कि वह, अन्यव्यावृत्ति करते हुए अपने लक्ष्यका नियामक नहीं हो सकता। इस लक्षणाभासके तीन भेद हैं—

अव्याप्त १ अतिव्याप्त २ असम्भवी ३। अव्याप्त लक्षणाभास उसे कहते हैं जो लक्ष्य (जिसका कि लक्षण किया जाय) के एक-देशमें रहे, जैसे जीव, सामान्यका लक्षण रागद्वेप। यह "रागद्वेप" लक्षण सर्व जीवों (संसारी व सिद्धों) में न रहकर केवल उसके एकदेश भूत जो संसारी जीव उन्हींमें रहता है, सिद्धोंमें नहीं रहता, इस लिए ऐसा लक्षण अव्याप्त (लक्ष्यमात्रे न व्याप्तोऽव्याप्तः अथवा अ-एकदेशे व्याप्तः अव्याप्तः अर्थात् लक्ष्यमात्र यानी लक्ष्यके सर्वदेशोंमें जो नहीं व्यापै-रहै उसे अव्याप्त कहते हैं। अथवा अ मानें एकदेश यानी लक्ष्यके एक देशमें जो व्यापै-रहै उसे अव्याप्त कहते हैं) लक्षणाभास कहलाता है। जो लक्ष्यमें रहकर अन्य अलक्ष्य (लक्ष्यके सिवाय अन्य पदार्थ, जिनका कि लक्षण नहीं किया गया) में भी रहे उसे अतिव्याप्त (अति-अतिक्रम्य लक्ष्यमिति शेष: व्याप्नोतीत्यतिव्याप्तः अर्थात् लक्ष्यको छोडकर अन्य अलक्ष्यमें व्यापै-रहै उसे अतिव्याप्त कहते हैं) लक्षणाभास कहते हैं।

जैसे शुद्ध जीवका लक्षण अमूर्तत्व-रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित होना। यह लक्षण यद्यपि लक्ष्यभूत जीवमें रहता है, परन्तु लक्ष्यके सिवाय अन्य आकाशादिक अलक्ष्यमें भी रहता है इसलिए ऐसा लक्षण अतिव्याप्त लक्षणाभास कहलाता है। जिसकी लक्ष्यमें सम्भावना ही न हो उसे असम्भवी (लक्ष्ये न सम्भवतीत्यसम्भवी अर्थात् जो लक्ष्यमें नहीं सम्भवै, उसे असम्भवी लक्षणाभास कहते हैं)

जैसे शुद्ध जीवका लक्षण मूर्त्तत्व–रूप, रस, गंध, स्पर्शका होना। यह लक्षण लक्ष्यभूत जीवमें बिलकुल हीं नहीं पाया जाता, इसलिए ऐसा लक्षण, असम्भवी लक्षणाभास कहलाता है। सारांश यह है कि जो, अपने लक्ष्यके सिवाय अन्य दूसरी जगह न रहकर और अपने लक्ष्यके सब देशोंमें रहकर, दूसरोंसे व्यावृत्ति करनेका कारण है, वही सल्लक्षण है।

अब प्रमाणके स्वरूपका वर्णन करते हैं

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् प्रकर्षेण–संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते ज्ञायते वस्तुतत्वं येन तत्प्रमाणम् अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादिकको दूर करते हुए, जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाय, उसे प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण शव्द, प्र उपसर्गपूर्वक मा धातुसे, करण अर्थमें, ल्युट् प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है इसमें प्र शव्दका अर्थ, प्रकर्षपणा है, यानी संशय आदिक मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति करते हुए है और मा धातुका अर्थ, ज्ञान है और करण अर्थमें ल्युट्प्रत्ययका अर्थ, साधकतम करण (यव्द्यापारादनन्तरमव्यवहितत्वेनक्रियानिष्पत्ति-स्तत्साधकतमंतदेवकरणम् अर्थात् जिसके व्यापारके अनन्तर ही, वे रोक टोक क्रियाकी निष्पत्ति होती है, उसे साधकतम करण कहते हैं) है।

इन सवके कहनेका मतलव यह है कि "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्" सच्चे ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। जो मिथ्याज्ञान होते हैं, वे प्रमाण नहीं हो सकते। कारण कि प्रमाणसे जो पदार्थ जाने जाते हैं, उस विपयका अज्ञान हट जाता है। परन्तु संशयादिक मिथ्याज्ञानसे, उस विपयका अज्ञान नहीं हटता–वस्तुका ठीक स्वरूप नहीं मालूम होता। और जो ज्ञानरूप नहीं होते वे भी प्रमाण नहीं हो सकते। जैसे घटपटादिक, कारण कि हितकी प्राप्ति

और अहितका परिहार करनेके लिये, विद्वान् और परीक्षक जन, प्रमाणको वतलाते हैं। और हितकी प्राप्ति अहितका परिहार, विना ज्ञानके नहीं हो सकता। इसलिए सच्चे ज्ञानको प्रमाण कहा है, और जो जाननेमें सहायता पहुँचाते हुए भी साधकतम नहीं होते, वे भी प्रमाण नहीं हो सकते, जैसे सन्निकर्षादि।

यद्यपि सन्निकर्ष कहिये इंद्रियोंका पदार्थसे मिलना, किन्हीं किन्हीं इंद्रियोंके द्वारा पैदा होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिमें मदद पहुँचाता है, परन्तु सन्निकर्ष होनेके अनन्तर ही, तद्विपयक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती, कारण कि वह अचेतन है। जो स्वयं अचेतन है, वह दूसरेके अज्ञानको कैसे हटा सकता है? क्योंकि ऐसा नियम है कि जो जिसका विरोधी होता है, वही उसको हटा सकता है।

देखा जाता है कि अन्धकारको दूर करनेके लिये, प्रकाशमय दीपककी आवश्यकता होती है, और उससे (अन्धकारके विरोधी प्रकाशमय दीपकसे) अन्धकार हट सकता है, न कि कागज कलम दावातसे। कारण कि कागज कलम दावात ये कोई अन्धकारके विनाशक नहीं हैं।

ये वात दूसरी है कि दावात और कलमके द्वारा कागजके ऊपर लिखे हुए हुक्मनामासे दीपक आ सकता और अन्धकार दूर हो सकता है, परन्तु वे अन्धकारके हटने, वा प्रकाश होनेके साधकतम कारण न होनेकी वजहसे, अन्धकार विनाशक नहीं कहे जा सकते। ठीक इस ही तरह, यद्यपि सन्निकर्ष, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है। परन्तु वह अज्ञानके हटनेमें साधकतम कारण न होनेकी वाजहसे, प्रमाण नहीं कहा जा सकता, इस ही तरह इंद्रियवृत्ति आदि भी प्रमाण नहीं हो सकते, कारण कि वे स्वयं अचेतन होनेकी वजहसे, अज्ञानकी निवृत्तिरूपप्रमितिमें, कारण नहीं हो सकते हैं।

ऐसा होनेसे (प्रमीयतेऽनेन–प्रमीतिक्रियां प्रतियत्करणं तत्प्रमाणं। अर्थात् जो प्रमीतिक्रियाके प्रति करण हो, उसे प्रमाण कहते हैं) प्रमाण नहीं हो सकता। "रक्तेन दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन शुद्ध्यति" जो कपड़ा लोहूसे भरा हुआ है, वह लोहूसे ही साफ नहीं हो सकता है, इस ही तरह जो स्वयं अज्ञानरूप है वह अज्ञानको नहीं हटा सकता है इसलिये प्रमाणका "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्"—सच्चे ज्ञानको प्रमाण कहते हैं यह लक्षण, निर्विवाद समीचीन सिद्ध हुआ। प्रमाणमें प्रमाणता, यानी सच्चे ज्ञानकी सचाई, वही है, जो, ज्ञानने जिसको विषय किया–जिस पदार्थका ज्ञान हुआ, उस पदार्थका यथार्थमें वैसा ही होना।

यदि किसी आदमीको साँप देखकर "यह साँप है" इस प्रकार ज्ञान हुआ, तो हम उसके ज्ञानको, सच्चा–प्रमाणात्मक ज्ञान कहेंगे, और यदि किसी आदमीको, जो कि वास्तवमें एक डोरी थी, उसमें "यह साँप है" इस प्रकारका ज्ञान हुआ तो हम उसके ज्ञानको, मिथ्या–अप्रमाणात्मक ज्ञान कहेंगे। कारण कि जिसका उसे ज्ञान हुआ, यथार्थमें वह चीज वहाँ पर नहीं है वजाय उसके, और ही कोई चीज वहाँ पर है।

इन दोनों ही (प्रमाणात्मक–अप्रमाणात्मक) ज्ञानोंमें, जुदे जुदे कारणोंकी आवश्यकता होती है। कितने ही लोगोंका कहना है कि—जिन कारणोंसे सामान्य ज्ञान पैदा होता है, उन ही कारणोंसे, प्रमाणात्मक ज्ञानकी भी उत्पत्ति होती है, उसमें अन्य कारणान्तरोंकी आवश्यकता नहीं है। इतना जरूर है कि चक्षुरादि इंद्रियोंमें कोई विकार होनेसे, या अन्य कोई कारणोंसे, ज्ञान अप्रमाण हो जाता है। इस विषयमें न्यायका यह सिद्धान्त है कि जो भिन्न२ कार्य होते हैं, वे भिन्न२ कारणोंसे पैदा हुअ करते हैं, जैसे मिट्टीके घट और तन्तुओंसे पट। इस ही तरह

प्रमाणात्मक अप्रमाणात्मक ज्ञान भी, दो कार्य हैं, वे भी अपने भिन्न२ कारणोंसे पैदा होंगे। यदि ऐसा न माना जायगा तो यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है, इस प्रकारका विभाग नहीं बन सकता। क्योंकि आपके पास इस विभाग (यह प्रमाण और दूसरा अप्रमाण) के करनेका कोई सबूत ही नहीं, क्योंकि इसे उलटा भी हो सकता, अर्थात् जिसको कि आप अप्रमाण कहते हैं, उसको हम प्रमाण, और जिसको आप प्रमाण बतलाते हैं, उसको हम अप्रमाण भी कह सकते हैं।

इस लिये जिस तरह आप ज्ञानके अप्रमाण होनेमें दोषोंको कारण बतलाते हैं, उस ही तरह ज्ञानके प्रमाण होनेमें गुणोंको भी कारण अवश्य मानना चाहिये। इस प्रमाण-सच्चे ज्ञानकी उत्पत्ति, परसे ही होती है, परन्तु सच्चे ज्ञानकी सचाईका निश्चय कहीं पर (अभ्यस्त दशामें अर्थात् जिसको कि हम पहले कई दफे जान चुके हैं ऐसी हालतमें) स्वतः कहिये अपने आप हो जाता है और कहीं पर (अनभ्यस्त दशामें जिसके कि जाननेका पहले पहल मौका पडा हुआ है ऐसी हालतमें) परतः कहिये दूसरे अन्य कारणोंसे होता है।

फर्ज कीजिये जैसे कितने ही एक लडकोंने तालावमें स्नान करनेके लिये तय्यारी की और वे फौरन ही निधडक होकर उस तालावमें, जिसको कि वे पहले कई दफे जान चुके हैं, जाकर स्नान करते हैं तो ऐसी हालतमें उनको जिस समय तालावका ज्ञान हुआ, उस समय उसकी सचाईका भी ज्ञान हो लिया।

यदि ऐसा न होता, तो निधडक होकर हर्गिज भी दौड कर न जाते. इस लिये मालूम हुआ कि उनको उस तालावकी सचाईका निश्चय, पहले ही (उसके ज्ञान होनेके समय ही) हो चुका था, और एक दूसरी जगह एक मुसाफिर, जो कि जंगलमें

जारहा था, दूर हीसे किसी एक पदार्थको, जिसको कि इस समय मरीचिका, या नदी, या तालाब, कुछ नहीं कह सकते, देख कर ज्ञान हुआ "वहाँ जल है" परन्तु उस जलज्ञानकी सचाईका निश्चय, उसे उस ही समय नहीं हुआ। अन्यथा उसके दिलमें संशय न होता, परन्तु उसे संशय तो अवश्य होता है कि जो मैंने जाना है वह जल है या नहीं।

फिर धीरे२ आगे चल कर उसे उधर हीसे (जिस दिशामें कि उसे "वहां जल है" ऐसा ज्ञान हुआ था) धीमे२ वहती हुई, ठंडी हवाका स्पर्श हुआ। तथा उसीके आसपासमें कमलोंकी खुशबू मालूम हुई, तथा मेंडकोंके टर्रानेकी आवाज सुनाई पडी, और फिर थोडे देर आगे चल कर ही वह क्या देखता है, कि पनहारी, पानी भरे हुए घडोंको लिये हुए आ रही हैं। तो फिर उसे फौरन ही इस वातका निश्चय हो जाता है, कि जो मुझे पहले पानीका ज्ञान हूआ था, वह ठीक ही था, कारण कि यदि यहां पर पानी नहीं होता, तो पानीके वगैर नहीं होनेवाली ठंड़ी हवा, कमलोंकी खुशबू, तथा मेंडकोंकी आवाज क्यों होती। ऐसे स्थलमें जल ज्ञानकी सचाईका निश्चय उसे दूसरे कारणोंसे होता है, वस इसको ही अभ्यस्तदशामें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः और अनभ्यस्तदशामें परतः होती है, कहते हैं।

उस प्रमाणात्मक ज्ञानके मूल दो भेद हैं; एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण उस ज्ञानको कहते हैं जो पदार्थके स्वरूपको स्पष्ट रीतिसे जानता है। उसके दो भेद हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष १ (जिसको लोग एक देशीय निर्मलता होनेकी वजहसे प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु वास्तवमें जो इंद्रियादिककी अपेक्षा रखनेसे परोक्ष हो, क्योंकि ऐसा सिद्धांत है कि "असहायं प्रत्यक्षं परोक्षं सहायसापेक्षम्" अर्थात् जो इंद्रियादिककी सहायता न लेकर केवल आत्माके अवलम्बनसे वस्तुका स्पष्ट जानना

है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और जो दूसरे इंद्रिकादिककी सहायतासे ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है) पारमार्थिक-प्रत्यक्ष २, जिस ज्ञानमें इंद्रिय और मनकी सहायता होने पर भी एक देशसे निर्मलता पाई जाय, उसके सांव्य-वहारिकप्रत्यक्ष कहते हैं। उसके १ अवग्रह २ ईहा ३ अवाय ४ धारणाके भेदसे चार भेद हैं।

इंद्रिय और पदार्थके समवधानके अनन्तर होनेवाले, सामान्य सत्ताको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन कहते हैं और दर्शन होनेके अनन्तर होनेवाले, अवान्तरसत्ता विशिष्ट वस्तुको विषय करनेवाले ज्ञान विशेषको, अवग्रह कहते हैं जैसे "यह पुरुष है," भावार्थ हरएक वस्तुमें जुदा जुदा अस्तित्व गुण रहता है, जिसकी वजहसे वस्तुका कभी भी नाश नहीं होता।

उस अस्तित्व गुणके साथ जब कोई विशेषण नहीं लगा रहता है, कि अमुकका अस्तित्व अर्थात् जब अस्तित्वके कहनेसे सर्व पदार्थोंके अस्तित्वका ग्रहण होता है तब उसहीको महासत्ता व सामान्य सत्ता कहते हैं और जब उस अस्तित्व गुणके साथ कोई विशेषण लग जाता है कि अमुकका अस्तित्व अर्थात् जब अस्तित्वके कहनेसे किसी एक पदार्थके अस्तित्वका ग्रहण होता है, तब उस-हीको अवन्तरसत्ता व विशेषसत्ता कहते हैं।

इनमेंसे महासत्ताको विषय करनेवाले सामान्य प्रतिभास रूप उपयोगको दर्शन कहते हैं और अवान्तरसत्तासे विशिष्ट वस्तुको विषय करनेवाले उपयोग-ज्ञान विशेषको अवग्रह कहते हैं। अव-ग्रहसे जाने हुए पदार्थके विशेषमें उत्पन्न हुए संशयको दूर करते हुए, अभिलाषस्वरूप ज्ञानको ईहा कहते हैं-जैसे यह दक्षिणी है। ईहासे जाने हुए पदार्थमें यह वही है अन्य नहीं है ऐसे मजबूत ज्ञानको अवाय कहते हैं जैसे-यह दक्षिणी ही है, अन्य पुरवि

वगैरह नहीं है। जिस ज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण नहीं होय उसे धारणा कहते हैं। (शंका) एक ज्ञानके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान, गृहीतग्राही होनेसे धारावाहिक ज्ञान (घटोऽयं घटोऽयं घटोऽयं इस प्रकार एक आकारके उत्पन्न होनेवाले ज्ञान) की तरह अप्रमाण माना जाता है, इसलिये अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थको ही ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान करते हैं इसलिये वे भी अप्रमाण होने चाहिए।

क्योंकि अपूर्व २ अर्थको निश्चय करानेवाले ज्ञानको, प्रमाण ज्ञान कहते हैं। (समाधान) धारावाहिक ज्ञानको जो अप्रमाण माना है, उसका मूल कारण यह है कि ज्ञानका काम यह है कि जिस विषयका ज्ञान हो, उस विषयका अज्ञान हट जाय परन्तु यह काम जब पहले उत्पन्न हुए ज्ञानसे ही हो गया, तब फिर उसके बाद फिर फिर उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंसे क्या फायदा? क्योंकि पूर्वमें उत्पन्न हुए ज्ञानसे उत्तरोत्तरमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंसे कुछ भी विशेषता नहीं पाई जाती, इसलिये वे, बाद हुए सब ज्ञान अप्रमाण माने जाते हैं, और जिन ज्ञानोंमें पूर्व-ज्ञानकी अपेक्षा विशेषता पाई जाती वे प्रमाण माने जाते हैं।

यदि ऐसा न माना जाय तो जिस अग्निको पहले किसीने अनुमान ज्ञानसे जाना, पीछे उसहीका प्रत्यक्ष किया तो वह भी गृहीतग्राही होनेकी वजहसे अप्रमाण मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा नहीं है, वह विशिष्ट होनेकी वजहसे प्रमाण ही माना जाता है। इस ही तरह ईहाहिक ज्ञानोंमें भी कुछ विशेपता है वह यह है कि अवग्रह ज्ञान और ईहा ज्ञान इनमें तो विषयभेदकी अपेक्षा भेद है, कारण कि अवग्रह ज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थके विशेष अंशमें, ईहा ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है और ईहा, अवाय, धारणा इन तीनों ज्ञानोंमें प्रबलता दुर्बलताकी अपेक्षा विशेपता है। ईहा

ज्ञान इतना कमजोर है कि जिस पदार्थकी ईहा होकर छूट जाय उसके विषयमें, कालान्तरमें संशय और विस्मरण हो जाता है और अवाय ज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें संशय नहीं होता।

इसलिये ईहा ज्ञानसे यह अवाय ज्ञान प्रवल है, परन्तु इसके विषयमें विस्मरण हो जाता है और धारणा ज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें, कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण भी नहीं होता है। इस लिये यह ज्ञान अवाय ज्ञानसे भी प्रवल है, इस लिये विषयमें विशेषता तथा उत्तरोत्तर ज्ञानोंमें प्रबलता होनेकी वजहसे ये चारों ही ज्ञान प्रमाण हैं। और जिस ज्ञानमें इंद्रिय और मनकी सहायता न होनेकी वजह तथा केवल आत्माकी अपेक्षा होनेकी वजह सर्व-देशसे निर्मलता पाई जाय, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

उसके दो भेद हैं विकल प्रत्यक्ष १, सकल प्रत्यक्ष २। जो कुछ एक पदार्थोंको सर्वांश करके स्पष्ट रीतिसे जानता है, उसे विकल प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं। अवधिज्ञान १ मनःपर्यय ज्ञान २। जो सम्पूर्ण पदार्थोंको सर्वांश करके स्पष्ट रीतिसे जानता है वह सकल प्रत्यक्ष है। इसका दूसरा कोई जुदा भेद नहीं है, इसहीको केवलज्ञान कहते हैं। परोक्ष प्रमाण उस ज्ञानको कहते हैं जो पदार्थके स्वरूपको अस्पष्ट रीतिसे जानता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणी कर्मके क्षयसे, अथवा कोई एक विलक्षण क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और शाब्द व अनुमानादि ज्ञानसे जो नहीं जानी जा सकती है, ऐसी जो एक अनुभवसिद्ध निर्मलता है उसहीको स्पष्टतया विशदता कहते हैं, वह निर्मलता जिस ज्ञानमें पाई जाय वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और जिस ज्ञानमें वह न पाई जाय वह परोक्ष ज्ञान है।

परोक्षज्ञानके स्मृति १ प्रत्यभिज्ञान २ तर्क ३ अनुमान ४ और आगम ५ ऐसे पांच भेद हैं। जिस किसी पदार्थको धारणात्मक ज्ञानसे पहले अच्छी तरह जान लिया था, उसी पदार्थके "वह पदार्थ" इस प्रकार याद करनेको स्मृति कहते हैं। जबतक पदार्थका अवग्रह, ईहा, अवाय ज्ञान हो भी जाता है, परन्तु धारणा ज्ञान नहीं होता तबतक उस पदार्थमें स्मृति ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। अनुभव और स्मरण यह दोनों ज्ञान जिसमें कारण हों, ऐसे जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

इस प्रत्यभिज्ञानके तीन भेद हैं—एकत्व प्रत्यभिज्ञान १ सादृश्य प्रत्यभिज्ञान २ वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान ३. जो स्मृति और प्रत्यक्षके विषयभूत पदार्थोंकी दो दशाओंमें एकता दिखलाते हुए "यह वही है जिसे पहले देखा था" ऐसे आकारका ज्ञान होता है उसे एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जो स्मृति और प्रत्यक्षके विषयभूत, पूर्वमें जाने हुए तथा उत्तरकालमें जाने हुए दो पदार्थोंमें सदृशता दिखलाते हुए "यह उसके सदृश है जिसे पहले देखा था।"

ईस आकारवाला जोड़रूप ज्ञान होता है, उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जो स्मृति और प्रत्यक्षके विषयभूत पूर्वकालमें अनुभव किये हुए तथा उत्तरकालमें जाने हुए दो पदार्थोंमें, विसदृशता-विलक्षणता दिखलाते हुए 'यह उससे विलक्षण है जिसको पहले देखा व जाना था' इस आकारका ज्ञान होता है, उसको वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इस ही तरह और भी अनेक भेद जान लेना चाहिये।

व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। अर्थात् साधन (जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धि की जाती है) के होने पर साध्य (जिसकी सिद्धि की जाय) के होने तथा साध्यके न होनेपर साधनके भी न होनेको अविनाभाव सम्बन्ध (अ—न, विना—साध्यं विना,

भावः-भवनम् हेतोरितिशेषः अर्थात् साध्यके विना हेतुके न होनेको अविनाभाव कहते हैं) कहते हैं।

इसहीका नाम व्याप्ति है। यह व्याप्ति दो तरहकी है, एक समव्याप्ति, दूसरी विषमव्याप्ति। दुतरफा व्याप्तिको अर्थात् जिन दो पदार्थोंमें दोनों तरफसे अन्वय (होनेपर होना) व्यतिरेक (न होनेपर न होना) पाया जाय उसे समव्याप्ति कहते हैं जैसे ज्ञान और आत्मामें जहाँ-जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वहाँ आत्मत्व-जीवत्व जरूर होता है, इस ही तरह जहाँ आत्मत्व-जीवत्व होता है वहाँ२ ज्ञान भी जरूर होता है और जहाँ२ ज्ञान नहीं होता वहाँ२ आत्मत्व भी नहीं होता, इस ही तरह जहां२ आत्मत्व नहीं होता वहां२ ज्ञान भी नहीं होता, इसलिए यहाँ ज्ञानका आत्मत्वके साथ और आत्मत्वका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे समव्याप्ति है।

एक तरफा व्याप्ति अर्थात् अविनाभूत जिन दो पदार्थोंमें एक तरफसे व्याप्ति होती है, उसको विषम व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूम और अग्निमें, जहां२ धूम होता है वहां२ अग्नि जरूर होती और जहां अग्नि नहीं होती वहां धूम भी नहीं होता, इस तरह धूमकी तरफसे अग्निके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है, परन्तु जहां२ अग्नि होती है वहां२ धूम भी होता है तथा जहां२ धूम नहीं होता वहां२ अग्नि भी नहीं होती, इस तरह अग्निकी तरफसे धूमके साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं पाया जाता है। कारण कि अंगारेमें तथा तपाये हुए लोहेके गोलेमें अग्नि तो है परन्तु धूम नहीं इस लिये अन्वय व्यभिचार (होने पर न होना) तथा व्यतिरेक व्यभिचार (न होने पर होना) आजानेसे एक तरफा ही व्याप्ति रही, इसहीको विषम व्याप्ति कहते हैं। इन दोनों ही तरहकी व्याप्तिका जिससे ज्ञान हो उसको तर्क कहते हैं।

भावार्थ—जो साध्य साधन सम्बन्धी अज्ञानके हटानेमें साधकतम कारण हो उसको तर्क ज्ञान कहते हैं। साधन (जो साध्यके अभावमें न रहता हो) से साध्य—जिसको वादी लोग सिद्ध करना चाहते हों, क्योंकि ऐसा न होनेसे अतिप्रसंग ही हो जायगा।

अर्थात् "कहे खेतकी सुनै खलियानकी" जैसी हालत हो जायगी। वादी तो चाहता है कि यहांपर अग्निकी सिद्धि की जाय परन्तु प्रतिवादी उससे उल्टे ही ईंट पत्थरकी सिद्धि कर रहा है, तो वह ईंट पत्थर साध्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वादी उनको सिद्ध ही नहीं कराना चाहता है। और जो यथार्थमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणसे वाधित न हो, क्योंकि ऐसा न होनेसे वह्निमें प्रत्यक्षसे वाधित ठंडापन भी साध्य होने लगेगा। और जिसमें संदेहादि पैदा हो रहे हों, क्योंकि ऐसा न होनेसे अर्थात् जिसमें किसी प्रकारका संदेह वगैरह नहीं है; फिर भी यदि वह साध्य कहलाने लगे; तव तो अनुमान ज्ञान व्यर्थ ही पड जायगा; क्योंकि जिसमें शक (संदेह) ही नहीं उसके सिद्ध करनेके लिये अनुमानकी क्या आवश्यकता ? संदेहादिकके दूर करनेके लिये ही तो अनुमान किया जाता था।

इस लिये जिसको वादी लोग सिद्ध करना चाहतें हों और जिसमें वर्तमान कालमें शक पैदा हो रहा हो, परन्तु उसके वास्तव होनेमें कोई प्रत्यक्षादि प्रमाणसे वाधा न आती हो; उसहीको साध्य कहते हैं। उसके ज्ञानको अनुमान कहते हैं न कि केवल साधनके ज्ञानको; कारण कि जिसका ज्ञान होता है उस ज्ञानसे उसहीका अज्ञान हटता है न कि दूसरेका; इस लिये साधनके ज्ञानसे साधनका अज्ञान हट जायगा न कि अग्निका, इसलिये साधनसे साध्यके ज्ञान होनेको अनुमान कहते हैं।

इस अनुमान ज्ञानके पैथा होनेकी परिपाटी व क्रम यों है—जब कोई आदमी धूम और अग्निको रसोईधर, अथाई व और अनेक जगहमें बार वार एक ही साथ देखता है, तो वह निश्चय कर लेता है कि धूम और अग्नि एक ही साथ होती है। परन्तु उसके साथ ही साथ, उसने एक या दो जगह ऐसा भी देखा कि वहां केवल अग्नि है और धूम नहीं, तब उसे निश्चय होता है कि ओह! जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि जरूर ही होती है, परन्तु जहां जहां अग्नि होती है वहां वहां धूम होता भी है और नहीं भी होता है, इस तरहके ज्ञान होनेके बाद, उसें जब कभी किसी जगह केवल धूम दिखाई देता और अग्नि दिखाई नहीं देती, उस जगह वह व्याप्ति (जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है) को स्मरण करता है और फिर अनुमान करता है कि "यहाँ कहीं अग्नि होनी चाहिये अन्यथा यदि यहाँ अग्नि न होती तो धूम क्यों दिखता" वस ऐसे ही (साधनसे साध्यके ज्ञानको) ज्ञानको अनुमान कहते हैं।

इस अनुमान ज्ञानके दो भेद हैं—एक स्वार्थानुमान दूसरा परार्थानुमान। किसी दूसरे परोपदेशादिककी अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं—अपने आप निश्चय किये हुए और पहले तर्क ज्ञानके द्वारा अनुभव किये हुए, साध्यसाधनकी व्याप्तिको स्मरण करते हुए, अविनाभावी धूमादिक हेतुके द्वारा किसी पर्वत आदिक धर्मीमें उत्पन्न हुए अग्नि आदि साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं।

इसके तीन अंग हैं अर्थात् इस स्वार्थानुमान ज्ञानके होनेमें तीन पदार्थोंकी आवश्यकता होती है—धर्मी १, साध्य २, साधन ३। धर्मी उसे कहते हैं जिसमें साध्यका शक हो, यदि ऐसा विशेष आधार न होगा तो अनुमान करनेसे फायदा ही क्या है?

क्योंकि धूम और अग्निके स्वरूपका ज्ञान तो व्याप्ति ज्ञान होते समय ही हो जाता है ।

अनुमानकी सार्थकता तब ही होती है जब कि किसी आधार विशेषमें (जहां कि व्याप्तिका निश्चय हुआ है उससे भिन्न कोई दूसरी जगहमें) साध्यकी सिद्धि होती है। इस लिये यह धर्मी पदार्थ, स्वार्थानुमानका एक अंग है, और जिसका व जिससे ज्ञान होता है ऐसे साध्य साधन रूप भी स्वार्थानुमानके दो अंग हैं, यदि साध्य पदार्थ न होगा तो स्वार्थानुमानसे जाना ही क्या जायगा ? इस ही तरह यदि साधन पदार्थ न होता तो साध्यकी सिद्धि ही किससे की जायगी ? इस लिये जिसमें (धर्मीमें) जिसकी (साध्यकी) जिससे (साधनसे) सिद्धि होती है ऐसे धर्मी, साध्य, साधन रूप स्वार्थानुमानके तीन अंग हैं ।

जो परके उपदेशसे सुननेवालेको साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। जैसे किसी एक आदमीने कहा कि " पर्वतोऽयमग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्वान्यथानुपपत्तेः " यह पर्वत अग्निवाला होना चाहिये क्योंकि बगैर अग्निके धूम-वाला नहीं हो सकता। इस वाक्यके अर्थको विचार करते हुए और व्याप्तिको स्मरण करते हुए, किसी एक सुननेवालेको जो ऐसा ज्ञान हुआ कि "यह पर्वत अग्निवाला है—इसमें अग्नि है" इस ही ज्ञानको परार्थानुमान कहते हैं।

जिस श्रोता—सुननेवालेको, दूसरेके कहे हुए वचनोंसे ज्ञान पैदा होता है यदि वह श्रोता समझदार है—व्युत्पन्न है यहां तक कि वह वाद-विवाद कर सकता है, तो वह केवल इशारेहीसे अर्थात् " यह पदार्थ ऐसा है, ऐसा होनेसे " इन दो बातोंहीके कहनेसे उसे जान जाता है, परन्तु जो अव्युत्पन्न नासमझ हैं उनके समझानेके लिए आचार्योंने प्रतिज्ञा,

हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ऐसे ये पांच कारण बतलाये हैं; ये ही परार्थानुमानके अंग व पंचावयव वाक्य बोले जाते हैं। धर्म (साध्य) और धर्मीके समुदायके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं—जैसे "पर्वतोऽयमग्निमान्" यह पर्वत अग्निवाला है, वहाँ पर्वतमें अग्निका संदेह है; इसलिये साध्य-अग्नि और धर्मी-पर्वत इन दोनोंका "पर्वतोऽयमग्निमान्" इस शब्दसे कहनेहीको प्रतिज्ञा कहते हैं। साध्यके अभावमें जिसका रहना असम्भव हो उसको साधन व हेतु कहते हैं जैसे-"धूमवत्वान्यथानुपपत्तेः" अन्यथा—वगैर अग्निवाले होनेके धूमवाला नहीं हो सकता अर्थात् पहिले प्रतिज्ञाका प्रयोग किया कि पर्वत अग्निवाला होना चाहिये, उसमें "क्या" ऐसी शंकाका उत्तर देनेके लिये कहा गया कि वगैर अग्निके यह धूमवाला नहीं हो सकता इसहीको हेतु कहते हैं। इस हेतुका प्रयोग हम विधि प्रतिषेधरूप दो तरहसे कर सकते हैं, अर्थात् "धूमवत्वात्" यह धूमवाला है अथवा "धूमवत्वान्यथानुपपत्तेः" वगैर अग्निके यह धूमवाला नहीं हो सकता।

सच्चे दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं, और दृष्टान्त उसे कहते हैं जो व्याप्ति (साध्य-अग्नि वगैरहके रहने पर ही साधन-धूमादिकका होना और न रहने पर न होना इस प्रकार साध्य साधनकी एक-साथ रहने रूप नियतताको व्याप्ति कहते हैं इसहीको साध्यके विना साधनका न होना रूप अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं) की सम्प्रतिपत्ति करनेका स्थान-विशेष है; अर्थात् जहांपर 'वेशक यहांपर साध्य साधनका साहचर्य है यहां दोनों ही एक-साथ रहते हैं तथा यहां पर दोनों ही एकसाथ नहीं रहते' ऐसी वादी तथा प्रतिवादी दोनोंकी बुद्धिका साम्य हो जाय, दोनों इस बातको मानलें, उसे दृष्टान्त कहते हैं, इस दृष्टान्तके कहनेहीको उदाहरण कहते हैं। जैसे धूमके द्वारा वह्निकी

सिद्धि करनेके लिये रसोईघर तथा तालाब आदिका कहना।

दृष्टान्त दो तरहके हैं—एक अन्वय दृष्टान्त, दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्त। जहां अन्वय व्याप्ति यानी साधनकी मौजूदगीमें साध्यकी मौजूदगी दिखाई जाय उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं—जैसे धूमसे वह्निकी सिद्धि करनेके लिये रसोईघर, यहां धूमकी मौजूदगीमें अग्निकी मौजूदगी दिखाई गई है। जहां व्यतिरेक व्याप्ति यानी साध्यकी गैरमौजूदगीमें साधनकी गैरमौजूदगी दिखाई जाय उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं, जैसे धूमसे वह्निकी सिद्धि करनेके लिये तालाब, यहां अग्निकी गैरमौजूदगीमें धूमकी गैरमौजूदगी दिखाई गई है।

इस तरह दृष्टान्तोंको द्विविध होनेसे इनके कहनेवाले वचनों (उदाहरणों) के दो भेद (साधर्म्योदाहरण, वैधर्म्योदाहरण) हैं। साध्यकी व्याप्ति विशिष्ट हेतुके रहनेकी अपेक्षा, दृष्टान्त और पक्षमें समानता दिखलानेवालेको उपनय कहते हैं; जैसे "तथाचायम्।" जैसे कि रसोईघर धूमवाला है उस ही तरह यह पर्वत भी धूमवाला है। हेतुको दिखाते हुए प्रतिज्ञाके दुहरानेको—हेतुकी सामर्थ्यसे नतीजेके निकालनेको निगमन कहते हैं; जैसे कि "तस्मादग्निमान्" धूमवाला होनेकी वजहसे अग्निवाला है। इस प्रकार अपने आप निश्चय किये हुए हेतुसे पैदा होनेवाले साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान और दूसरेके उपदेशसे जाने हुएसे पैदा होनेवाले साध्यके ज्ञानको परार्थानुमान कहते हैं।

जिस हेतुसे साध्यका ज्ञान होता है वह यदि सच्चा—निर्दोष (साध्यके विना न होने रूप हेतुके लक्षणसे विशिष्ट) है तब उससे पैदा होनेवाला साध्यका ज्ञान यानी अनुमान सदनुमान बोला जायगा और यदि मिथ्या—सदोष—साध्याविनाभावित्व रूप हेतुके लक्षणसे रहित है तब उससे पैदा होनेवाला साध्यका ज्ञान

अनुमानाभास वोला जायगा न कि अनुमान, इस लिये सच्चे और मिथ्या हेतुका निरूपण किया जाता है। सच्चे-निर्दोष हेतुहीको हेतु कहते हैं और मिथ्या सदोष हेतुको हेत्वाभास कहते हैं।

"अन्यथानुपपत्येक लक्षणं लिंगमभ्यते।" जो साध्यके विना न पाया जाय उसे सद्धेतु कहते हैं, और जिस हेतुमें ऊपर कहा हुआ लक्षण न पाया जाय परन्तु पंचमी आदि विभक्तियोंके द्वारा हेतु सरीखा मालूम हो उसे हेत्वाभास कहते हैं। उसके यद्यपि बहुत भेद हैं परन्तु मूल चार भेद हैं—१ असिद्ध, २ विरुद्ध, ३ अनैकांतिक (व्यभिचारी), ४ अकिञ्चित्कर इनहीमें अन्य हेत्वाभासोंका यथाम्भव अन्तर्भाव हो जाता है।

जिस हेतुके स्वरूपके सद्भावका अनिश्चय अथवा संदेह हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं, जैसे "शब्द नित्य है क्योंकि नेत्रका विषय है," यहां पर "नेत्रका विषय" यह हेतु है, यह स्वरूपहीसे शब्दमें नहीं रहता, कारण कि शब्द तो कर्णका विषय है नेत्रका नहीं है, इस लिये "नेत्रका विषय" यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, इस ही तरह जहां धूम और वाष्प (वाफ) का निश्चय नहीं, वहां पर किसीने कहा "वहां अग्नि है कारण कि यहां धूम है," अव यहां पर कहा गया जो धूम हेतु है वह संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास है, कारण कि धूमके (जिसको कि हेतु वनाया है) स्वरूपमें संदेह है। साध्यसे विरुद्ध पदार्थके साथ जिस हेतुकी व्याप्ति हो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं, जैसे "शब्द नित्य है क्योंकि परिणामी है," यहां पर 'परिणामित्व' हेतुकी व्याप्ति साध्य-नित्यत्वके साथ न होकर उससे विरुद्ध अनित्यत्वके साथ है क्योंकि जो परिणामी होते हैं वे अनित्य होते हैं, नित्य नहीं, इसलिये यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

जो हेतु पक्ष (जहां साध्यके रहनेका शक हो) सपक्ष (जहां साध्यके सद्भावका निश्चय हो) विपक्ष (जहां साध्यके अभावका निश्चय हो) इन तीनोंमें रहै उसको अनैकांतिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास कहते हैं, जैसे 'इस पर्वतमें धूम है क्योंकि यहां अग्नि है,' यहां पर 'अग्निमत्व' हेतु पक्ष-पर्वत, सपक्ष-रसोईघर, बिपक्ष-अंगारा इन तीनोंमें रहता है, इस लिये यह हेतु अनैकांतिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास है। जो हेतु, साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ न हो उसे अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते हैं, उसके दो भेद हैं-एक सिद्धसाधन दूसरा वाधितविषय। सिद्धसाधन उसे कहते हैं जिस हेतुका साध्य, साध्यकी सिद्धि करनेके पहले ही सिद्ध हो।

जैसे-"अग्नि गर्म है क्योंकि छूनेसे ऐसा ही (गर्म) मालूम होता है।" यहाँ अग्निमें गर्माई सिद्ध करनेके लिए दिये गये "छूनेसे ऐसा ही मालूम होता है" हेतुका साध्य-अग्निमें गर्माई पहले हीसे सिद्ध है इसलिये अनुमान करनेसे कुछ भी फायदा न हुआ। जिस हेतुके साध्यमें दूसरे प्रमाणसे वाधा आवे उसे वाधितविषय हेत्वाभास कहते हैं। उसके प्रत्यक्षवाधित, अनुमान-वाधित, आगमवाधित, स्ववचनवाधित आदि अनेक भेद हैं। प्रत्यक्षवाधित उसे कहते हैं जिसके साध्यमें प्रत्यक्ष वाधा न आवे, जैसे-'अग्नि ठंडी है क्योंकि यह द्रव्य है।'

यहां "द्रव्यत्व" यह हेतु प्रत्यक्ष वाधित है, क्योंकि अग्नि प्रत्यक्षसे ठंडीकी वजाय गर्म मालूम होती है। अनुमानवाधित उसे कहते हैं जिसके साध्यमें अनुमानसे वाधा आवे; जैसे "घास आदि कर्ताकी वनाई हुई हैं क्योंकि यह कार्य है," परन्तु इस अनुमानसे वाधा आती है कि "घास आदि कर्ताकी वनाई

हुई नहीं हैं क्योंकि इनका बनानेवाला शरीरधारी नहीं है। जो जो शरीरधारीकी बनाई हुई नहीं है वे वे वस्तुएं कर्ताकी बनाई हुई नहीं है, जैसे आकाश"। आगमबाधित उसे कहते हैं जिसके साध्यमें आगम कहिये शास्त्रसे बाधा आवे। जैसे "पाप सुखका देनेवाला है क्योंकि यह कर्म है, जो जो कर्म होते हैं वे वे सुखके देनेवाले होते हैं। जैसे पुण्यकर्म," इसमें शास्त्रसे बाधा आती है क्योंकि शास्त्रमें पापको दुःखका देनेवाला लिखा है।

स्ववचनबाधित उसको कहते हैं जिसके साध्यमें अपने वचनसे बाधा आवै। जैसे "मेरी माता वंध्या है क्योंकि पुरुषका संयोग होनेपर भी उसके गर्भ नहीं रहता।" इसमें अपने वचनसे ही बाधा आती है। यदि तेरी माता वंध्या है तो तू कहांसे पैदा हुआ है और पैदा हुआ है तो वंध्या कैसी? इस लिये ऐसे हेत्वाभासोंसे भिन्न समीचीन हेतुसे साध्यके ज्ञानको अनुमानप्रमाण कहते हैं।

आप्त—यथार्थ बोलनेवाले (यथार्थ बोलनेवाले ऐसा कहनेसे ही वह सर्वज्ञवीतराग होना चाहिये कहा गया क्योंकि जो यदि आप्त सर्वज्ञ—सर्व पदार्थोंका जाननेवाला न होगा तो वह कितने एक अतीन्द्रिय पदार्थोंके न जाननेकी वजहसे विपरीत भी बोल सकता है और यदि वीतराग न होगा तो भी राग, द्वेष, लोभादिककी वजहसे अन्यथा भी निरूपण कर सकता है। इसलिये सर्वज्ञ वीतराग (यथार्थ बोलनेवाले) के वचन व इशारे वगैरहसे उत्पन्न हुए पदार्थके ज्ञानको आगमप्रमाण कहते हैं। इस प्रकार प्रमाणके निरूपण होनेके अनन्तर नयके स्वरूपका विवेचन किया जाता है।

प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म पाये जाते हैं; इस कारण वस्तुको

अनेक धर्मात्मक व अनेकान्तात्मक (धर्म व अंत इनका एक ही अर्थ है) कहते हैं। अर्थात् वस्तु कथञ्चित् नित्य है कथञ्चित् अनित्य है। कथञ्चित् एक है कथञ्चित् अनेक है, कथञ्चित् सर्वगत है कथञ्चित् असर्वगत है, इत्यादि अनेक धर्मविशिष्ट है, यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वृक्षसे फलपुष्पादिककी अनुत्पत्तिका प्रसंग आवेगा अथवा सर्वथा अनित्य ही हो तो प्रत्यभिज्ञान (यह वही है, जो पहले था) के अभावका प्रसंग आवेगा अथवा सर्वथा नित्य माननेसे वस्तु अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं हो सकती और जो अर्थक्रियारहित कूटस्थ है वह वस्तु ही नहीं हो सक्ती, इत्यादि अनेक दोष आवेंगे। इस कारण वस्तु अनेकान्तात्मक ही है।

ज्ञान दो प्रकारका है—एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। जो परोपदेशके विना स्वयं हो उसको स्वार्थ कहते हैं और जो परोपदेशपूर्वक हो उसको परार्थ कहते हैं। मति, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये चारों ज्ञान स्वार्थ ही हैं और श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। जो श्रुतज्ञान श्रोत्रविना अन्य इंद्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है वह स्वार्थ श्रुतज्ञान है, और जो श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है वह परार्थश्रुतज्ञान है। भावार्थ—अनंत गुणोंके अखण्ड पिंडको द्रव्य कहते हैं, गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई जुदा पदार्थ नहीं है इसलिये उसका निरूपण गुणवाचक शब्दके विना नहीं हो सकता।

इसलिये अस्तित्व आदि अनेक गुणोंके समुदायरूप एक द्रव्यका निरंशरूप समस्तपनेसे अभेदवृत्ति तथा अभेदोपचार कर एक गुणके द्वारा प्रतिपादन होता है। इसलिए जिस समय एक गुणके द्वारा अभिन्न स्वरूप अनन्त धर्मात्मक एक वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है उस समय सकलादेश होता है। इस

सकलादेश वाक्यको ही प्रमाणवाक्य कहते हैं। यद्यपि वस्तु निरंश है, परन्तु उस निरंश अखण्ड वस्तुमें भिन्न२ कार्योंसे अनुमेय तथा भिन्न भिन्न लक्षणोंको लिए हुए अनेक गुण पाये जाते हैं। उन गुणोंकी अपेक्षा जो उस निरंश वस्तुमें अंशकी कल्पना है अर्थात् जिस समय एक गुणके द्वारा भेदवृत्ति तथा भेदोपचार कर भिन्न भिन्न अनेक गुणोंकी भी अपेक्षा करते हुये एक गुणका प्रतिपादन किया जाता है, उस समय विकलादेश होता है। इस विकलादेश वाक्यको ही नयवाक्य कहते हैं। इस नयवाक्यसे उत्पन्न हुए ज्ञानको नय कहते हैं, अर्थात् नय वाक्यको द्रव्यनय और उस उस नयवाक्यसे पैदा हुए ज्ञानको भावनय कहते हैं।

सो ही "कार्तिकेय" स्वामीने कहा है :—

लोयाणं ववहारं धम्म विवक्खाइ जो पसाहेदि ।
सुयणाणस्स वियप्पो सोवि णओ लिंग संभूदो ॥

अर्थात् धर्मविविक्षासे लोकव्यवहारके साधक लिंग (हेतु) से उत्पन्न श्रुतज्ञानके विकल्पको नय कहते हैं।

जं जाणिज्जइ जीवो इंदियवावारकायचिट्ठाहिं ।
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहु विहं जाण ॥

अर्थात् जीव इन्द्रियव्यापार और कायचेष्टाके द्वारा जो जानता है उसे अनुमान कहते हैं। सो यह भी नय ही है। क्योंकि अनुमान प्रमाणको भी श्रुतज्ञान ही माना है।

सो चिय इक्को धम्मो वचयसद्दो वितस्स धम्मस्स ।
तं जाणदि जं जाणं ते तिण्णिवि णय विसेसाय ॥

अर्थात् वह वस्तुका एक धर्म और उस धर्मका वाचक शब्द तथा उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों ही नय विशेष हैं। "श्री देवसेन" स्वामीने नयचक्रमें कहा है :—

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थु अंस संगहणं ।
तं इह णयं पउतं णाणी पुण तेण णाणेहिं ॥

तथा पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिमें कहाहै :—

वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वार्पणात् ।
साध्यविशेषयाथात्म्यप्रापणप्रवणःप्रयोगो नयः ॥

अर्थात्—जो प्रयोग अनेकांतस्वरूप वस्तुमें अविरुद्धहेतुअर्पणासे साध्य विशेषकी यथार्थता प्राप्त करनेमें समर्थ है, उसको नय कहते हैं। इन सबका सिद्धांत वही है, जो ऊपर लिखा जा चुका है। जो इतर धर्मोंकी अपेक्षा सहित हैं, वे सुनय हैं और वेही पदार्थके साधक हैं। और जो इतर धर्मोंसे निरपेक्ष हैं, वे कुनय हैं। उनसे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती।

श्री "देवसेन" स्वामीने नयोंकी प्रशंसामें बहुत कुछ कहा है, परन्तु सबका सारांश एक गाथामें इस प्रकार कहा है;—

जे णयदिट्ठि विहूणा ताण ण वत्थू सहाव उवलद्धी ।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं होंति ॥

अर्थात्—जो पुरुष नयदृष्टिरहित हैं, उनको वस्तुस्वभावकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और वस्तुस्वभावकी प्राप्तिके विना सम्यग्दृष्टि किसी प्रकार नहीं हो सकते। इसलिये नयोंका सविस्तर विशेष स्वरूप कहते हैं :—

नयके मूलभेद दो हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहार नय। इस ही व्यवहारनयका दूसरा नाम उपनय है।

" निश्चयमिहभूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थं "

इस वचनसे निश्चयका लक्षण भूतार्थ और व्यवहारका लक्षण अभूतार्थ है। अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, यह निश्चयनयका विषय है। और एक पदार्थको परके निमित्तसे व्यवहारसाधनार्थ अन्यरूप कहना व्यवहारनयका विषय है।

निश्चयनयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नयका लक्षण कार्तिकेयस्वामीने इस प्रकार कहा है:—

जो साहदि सामण्णं अविणाभूदं विसेसरूवेहिं।
णाणा जुत्तिवलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥

अर्थात्—जो विशेष स्वरूपसे अविनाभावी सामान्य स्वरूपको नाना युक्तिके बलसे साधन करता है, उसको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

भावार्थ—द्रव्य नाम सामान्यका है, और वस्तुमें सामान्य और विशेष दो प्रकारके धर्म होते हैं। उनमेंसे विशेष स्वरूपोंको गौण करके जो सामान्यका मुख्यतासे ग्रहण करता है, सो द्रव्यार्थिक नय है। और इससे विपरीत पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् पर्याय नाम विशेषका है, सो जो वस्तुके सामान्य स्वरूपको गौण करके विशेष स्वरूपका मुख्यतासे ग्रहण करता है, उसको पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके दो दो भेद हैं—

अध्यात्मद्रव्यार्थिक, अध्यात्मपर्यायार्थिक, शास्त्रीयद्रव्यार्थिक और शास्त्रीयपर्यायार्थिक।

इनमेंसे अध्यात्मद्रव्यार्थिकके दश भेद और अध्यात्मपर्यायार्थिकके छह भेद हैं। शास्त्रीयद्रव्यार्थिकके तीन भेद—१ नैगम,

२ संग्रह और ३ व्यवहार हैं। जिनमें भी नैगमके तीन भेद, संग्रहके दो भेद, व्यवहारके दो भेद, इस प्रकार शास्त्रीयद्रव्यार्थिकके सब सात भेद हुए। शास्त्रीयपर्यायार्थिकके चार भेद हैं–

१ ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ़ और एवंभूत। इनमें भी ऋजुसूत्र नयके दो भेद और शेष तीनोंके एक एक। सब मिलकर शास्त्रीयपर्यायार्थिकके पांच भेद हुए। इस प्रकार शास्त्रीयनयके बारह भेद और अध्यात्मके सोलह भेद सब मिलकर निश्चयनयके कुल अट्ठाईस भेद हुए।

व्यवहारनयके मूलभेद तीन–१ सद्भूत, २ असद्भूत, और ३ उपचरित। इसमें भी सद्भूतके दो, असद्भूतके तीन और उपचरितके तीन भेद, इस प्रकार व्यवहारनयके सब मिलकर आठ भेद हुए। इसमें निश्चयनयके अट्ठाईस भेद मिलानेसे नयके कुल ३६ भेद हुए। अब इनके भिन्न भिन्न लक्षण इस प्रकार जानने चाहिये—

सबसे पहले अध्यात्मद्रव्यार्थिकके दश भेदोंके लक्षण कहते हैं—

१–जो कर्मबन्धसंयुक्त संसारी जीवको सिद्धसदृश शुद्ध ग्रहण करता है, उसको कर्मोपाधिनिरपेक्ष–शुद्ध–द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे—संसारी जीव सिद्धसदृश शुद्ध हैं।

२–जो उत्पादव्ययको गौण करके केवल सत्ताका ग्रहण करता है, उसको सत्ताग्राहक–शुद्ध–द्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे–द्रव्य नित्य हैं।

३–गुणगुणी और पर्यायपर्यायीमें भेद न करके जो द्रव्यको गुणपर्यायसे अभिन्न ग्रहण करता है उसको भेद विकल्प निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक कहते हैं जैसे—अपने गुणपर्यायसे द्रव्य अभिन्न है।

४–जो जीवमें क्रोधादिक भावोंका ग्रहण करता है, उसको

कर्मोपाधि-सापेक्ष-अशुद्ध-द्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे,-जीवको क्रोधी मानी मायावी लोभी आदि कहना।

५-जो उत्पादव्ययमिश्रित सत्ताको ग्रहण करके एक समयमें त्रितयपनेको ग्रहण करता है, उसको उत्पादव्ययसापेक्ष-अशुद्ध-द्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे,-द्रव्य एक समयमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्ययुक्त है।

६-जो द्रव्यको गुणगुणी आदि भेदसहित ग्रहण करता है, उसको भेदकल्पना-सापेक्ष-अशुद्धद्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे,-दर्शनज्ञान आदि जीवके गुण हैं।

७-समस्य गुणपर्यायोंमें जो द्रव्यको अन्वयरूप ग्रहण करता है, उसको अन्वय-द्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे,-द्रव्य गुणपर्याय स्वरूप है।

८-जो स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यको सत्‌स्वरूप ग्रहण करता है, उसको स्वद्रव्यादि-ग्राहक-द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे,-स्वचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य है।

९-जो परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यको असत्‌स्वरूप ग्रहण करता है, उसको परद्रव्यादि-ग्राहक-द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे-परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नहीं है।

१०-जो अशुद्धशुद्धोपचाररहित द्रव्यके परमस्वभावको ग्रहण करता है, उसको परमभावग्राही-द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे, जीवके अनेक स्वभाव हैं, उनमेंसे परमभावज्ञानकी मुख्यतासे जीवको ज्ञानस्वरूप कहना।

ये द्रव्यार्थिक नयके दश भेद हो चुके। अब पर्यायार्थिक नयके छह भेदोंके लक्षण और उदाहरण सुनिये:—

१-जो अनादिनिधन चन्द्रसूर्यादि पर्यायोंको ग्रहण करता है, उसको अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे,-मेरु, पुद्गलकी नित्य पर्याय है।

२-कर्मक्षयसे उत्पन्न और कारणभावसे अविनाशी पर्यायको जो ग्रहण करता है, उसको आदि-नित्य-पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे,-जीवकी सिद्धपर्याय नित्य है।

३-जो सत्ताको गौण करके उत्पादव्यय स्वभावको ग्रहण करता है, उसे अनित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे,-पर्याय प्रतिसमय विनश्वर है।

४-जो पर्यायको एक समयमें उत्पादव्यय और ध्रौव्य स्वभावयुक्त ग्रहण करता है, उसको अनित्यअशुद्धपर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे पर्याय एक समयमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

५-जो संसारी जीवोंकी पर्यायको सिद्धसदृश शुद्ध पर्याय ग्रहण करता है, उसको कर्मोपाधि निरपेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे,—संसारी जीवकी पर्याय सिद्धसदृश शुद्ध है।

६-जो संसारी जीवोंकी चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य अशुद्ध पर्यायको ग्रहण करता है, उसको कर्मोपाधिसापेक्षअनित्यअशुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे,-संसारी जीव उत्पन्न होते हैं, और विनाशमान होते हैं।

ये पर्यायार्थिक नयके छह भेद हुए। अब नैगमनयके तीनों भेदोंके लक्षण इस प्रकार है :—

१-जहां अतीतमें वर्तमानका आरोपण होता है, उसको भूतनैगम कहते हैं। जैसे—आज दीपोत्सवके दिन महावीर भगवान् मोक्षको गये।

२-जहां भावीमें भूतवत् कथन होता है उसको भावीनैगमनय कहते हैं। जैसे अर्हंतोंको सिद्ध कहना।

३ जिस कार्यका प्रारंभ कर दिया जाता है और उसमेंसे

एकदेश तैयार हुआ हो अथवा विलकुल तैयार नहीं हुआ हो उसको तैयार हुआ ऐसा कहना वर्तमान नैगमनयका विषय है। जैसे कोई पुरुष रसोई करनेके निमित्त, भातके लिये चांवल साफ कर रहा है अथवा किसीने भात वनानेके वास्ते चांवल अग्निपर चढ़ा दिये हैं परन्तु अभी भात तैयार नहीं हुआ है, किसीने जानकर पूछा कि, महाशय कहिये आज क्या वनाया? तब वह उत्तर देता है कि, "भात वनाया"।

१-सत् सामान्यकी उपेक्षासे समस्त द्रव्योंको जो एक-रूप ग्रहण करता है उसको सामान्य संग्रहनय कहते हैं, जैसे सर्व द्रव्य सत्की उपेक्षासे परस्पर अविरुद्ध हैं।

२-जो एक जाति विशेषकी उपेक्षासे अनेक पदार्थोंको एक रूप ग्रहण करता है उसको विशेषसंग्रहनय कहते हैं, जैसे चेतनाकी अपेक्षासे समस्त जीव एक हैं।

१-जो सामान्य संग्रहके विषयको भेद रूप ग्रहण करता है उसको शुद्धव्यवहारनय कहते हैं-जैसे द्रव्यके दो भेद हैं— जीव और अजीव।

२-जो विशेष संग्रहके विषयको भेदरूप ग्रहण करता है उसको अशुद्धव्यवहारनय कहते हैं। जैसे संसारी और मुक्त जीवके दो भेद हैं—

१-जो एक समयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्यायको ग्रहण करता है उसको सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं, जैसे सर्व शव्द क्षणिक हैं।

२-अनेक समयवर्ती स्थूलपर्यायको जो ग्रहण करता है उसको स्थूलऋजुसूत्रनय कहते हैं, जैसे मनुष्यादि पर्याय अपनी आयु प्रमाण तिष्ठे हैं।

१-शव्दनयका लक्षण देवसेनस्वामीने वड़े नयचक्रमें इस प्रकार कहा है—

गाथा—जो वट्टणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंगआईणं ।
सो सद्दणओ भणिओ णेउंपुंसाइयाण जहा ॥ १ ॥
अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ जं किंपि अत्थ ववहरणं ।
तं खलु सद्दे विसयं देवो सद्देण जह देओ ॥ २ ॥

इन दोनों गाथाओंका अभिप्राय यह है कि, एक पदार्थमें भिन्न लिंगादिककी स्थितिको जो नहीं मानता है उसको शब्द नय कहते हैं।

भावार्थ—स्त्री, पुरुष, नपुंसकलिंग, आदि शब्दसे एक वचन, द्विवचन, वहुवचन, संख्या, काल, कारक, पुरुष, उपसर्गका ग्रहण करना, एकही पदार्थके वाचक अनेक शब्द होते हैं और उनमें लिंग संख्यादिकका विरोध होता है, जैसे पुष्प, तारका, नक्षत्र, ये तीनों लिंगके शब्द एकही ज्योतिष्कविमानके वाचक हैं, सो इनमें परस्पर व्यभिचार हुआ, परन्तु शब्दनय इस व्यभिचारको नहीं मानता है अथवा व्याकरणसे भिन्न लिंगादि युक्त जो शब्द सिद्ध हैं वे जो कुछ अर्थ व्यवहरण करै सोही शब्द नयका विषय है। अर्थात् जो शब्दका वाच्य है उसही स्वरूप पदार्थको भेदरूप मानना शब्दनयका विषय है। इन दोनों गाथाओंका चरितार्थ एक ही है किंतु कथनशैली भिन्न२ है उसका खुलासा इस प्रकार है कि, संसारमें जितने शब्द हैं उतने ही परमार्थरूप पदार्थ हैं, ऐसा ही कार्तिकेय स्वामीने कहा है—

गाथा-किंबहुना उत्तेणय जित्तिय मेत्ताणि संति णामाणि
तित्तियमेत्ता अत्था संति हि णियमेण परमत्था ॥ १ ॥

फिर जो संसारमें एक पदार्थके वाचक अनेक शब्द दिखाई देते हैं जैसे इंद्र, पुरन्दर, शक्र, जल, अप्, भार्या, कलत्र। तात्पर्य यह है कि, प्रत्येक पदार्थमें अनेक शक्ति हैं और एक-

एक शब्द एक-एक शक्तिका वाचक है इसही कारणसे भिन्न लिंग संख्यादि वाचक अनेक शब्दोंका एक पदार्थमें पर्यवसान होना सदोष नहीं हो सकता अर्थात् इसमें व्यभिचार नहीं है। किन्तु जो जो शब्द जिस जिस शक्तिके वाचक है, उन उन शक्तिरूप उस पदार्थको भेदरूप मानना यही शब्दनयका विषय है।

१-एक शब्दके अनेक वाच्य है उनमेंसे एक मुख्य वाच्यको किसी एक पदार्थमें देख उसपर आरूढ़ हो उस पदार्थके अन्य क्रियारूप परिणत होने पर भी उस पदार्थको अपना वाच्य माने यह समभिरूढ़ नयका विषय है। जैसे गो शब्दके अनेक अर्थ हैं, उनमेंसे एक अर्थ गतिमत्व है। यह गतिमत्व मनुष्य, हस्ती, घोटक, वलध इत्याहि अनेक पदार्थोंमें है किन्तु वलध पदार्थमें ही आरूढ़ होकर उस वलधको सोते बैठते आदि अन्य क्रिया करने पर भी गो शब्दका वाच्य मानना यही समभिरूढ़ नयका विषय है।

१-जिस क्रियावाचक जो शब्द उस ही क्रियारूप परिणत पदार्थको ग्रहण करै उसको एवं भूतनय कहते हैं। जैसे गौ जिस कालमें गमन करै उसही कालमें उसको गो कहे, अन्य क्रिया करते हुये उसे गो न कहे यही एवं भूतनयका विषय है।

शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन नय शब्दकी प्रधानता लेकर प्रवर्ते हैं इस कारण इनको शब्दनय करते हैं और नैगम संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थकी प्रधानता लेकर प्रवर्ते हैं इस कारण इनको अर्थनय कहते हैं। इस प्रकार निश्चयनयके २८ भेदोंका कथन समाप्त हुआ। अब आगे व्यवहारनयके आठ भेदोंके लक्षण कहते हैं—

१-एक द्रव्यमें गुण गुणी, पर्याय पर्यायी, कारक कारकवान् स्वभाव स्वभाववान्, इत्यादि भेदरूप कल्पना करना शुद्धसद्भूत-व्यवहारनयका विषय है।

२–अखण्ड द्रव्यको बहुप्रदेशरूप कल्पना करना अशुद्धसद्भूत-व्यवहारनयका विषय है।

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोपण करना असद्भूत-व्यवहारनयका विषय है, उसके तीन भेद हैं—

३–सजात्यसद्भूतव्यवहार।

४-विजात्यसद्भूतव्यवहार।

५–स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार।

इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नौ, नौ भेद होते हैं। अर्थात १. द्रव्यमें द्रव्यका समारोप, २. द्रव्यमें गुणका समारोप, ३. द्रव्यमें पर्यायका समारोप, ४. गुणमें गुणका समारोप, ५. गुणमें द्रव्यका समारोप, ६. गुणमें पर्यायका समारोप, ७. पर्यायमें पर्यायका समारोप, ८. पर्यायमें गुणका समारोप, ९. और पर्यायमें द्रव्यका समारोप। जैसे चन्द्रमाके प्रतिविम्बको चन्द्रमा कहना। यहाँ सजाति पर्यायमें सजाति पर्यायका समारोप है।

मतिज्ञानको मूर्त्तक कहना यहाँ विजाति गुणमें विजाति गुणका समारोप है। जीवाजीवस्वरूप ज्ञेयको ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञान कहना सजाति विजाति द्रव्यमें सजाति विजाति गुणका समारोप है। परमाणुको बहुप्रदेशी कहना यहाँ सजाति द्रव्यमें सजाति विभाव पर्यायका समारोप है।

इस ही प्रकार अन्य उदाहरण समझने चाहिये। अगर कोई यहाँ शंका करें कि, यह असद्भूतव्यवहार मिथ्या है, सो यह शंका निर्मूल है। जगतका व्यवहार इस नयके विना कदापि नहीं चल सकता और यह वात अनुभवसिद्ध है। किसी पुरुषने अपने लड़केसे कहा कि, घीका घड़ा लाओ तो यह सुनते ही वह लड़का तुरन्त घीसे भरा हुआ मिट्टीका अथवा तांबे, पीतलका

घड़ा उठा लाता है, यदि यह नय मिथ्या होती तो उस लडकेको उपर्युक्त अर्थज्ञान किस प्रकार हुआ?

अब उपचरित व्यवहारनयका लक्षण कहते हैं। इसको उपचरितासद्भूत व्यवहारनय भी कहते हैं।

उवयारा उवयारं सच्चा सच्चे सु उहय अत्थेसु।
सज्जाइ इयर मिस्से उवयरिओ कुणइ ववहारा॥ १॥

अथवा मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते सोपि संवन्धाविनाभावः अर्थात् सत्य, असत्य, उभयरूप, सजाति-विजाति मिश्र पदार्थों में उपचारोपचार करै सो उपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

भावार्थ—मुख्य पदार्थका अनुभव होते हुए प्रयोजन और निमित्तके वशतें इस नयकी प्रवृत्ति होती है। प्रयोजनका अभिप्राय व्यवहारसिद्धि और निमित्तका अभिप्राय विषयविषयी, परिणाम-परिणामी, कार्यकारण आदि संवंध है।

६–मित्र पुत्रादि बन्धुवर्ग मेरे हैं यह सजात्युपचरितासद्-भूतव्यवहारनयका विषय है।

७–आभरण हेम रत्नादिक मेरे हैं यह विजात्युपचरितासद्-भूतव्यवहारनयका विषय है।

८–देश राज्य दुर्गादिक मेरे हैं यह मिश्रोपचरितासद्भूत-व्यवहारनयका विषय है।

इस प्रकार यह व्यवहारनयके आठ भेदोंका कथन हुआ और निश्चयनयके २८ भेदोंका कथन पहिले कर चुके हैं। इस प्रकार नयके सब ३६ भेदोंका कथन समाप्त हुआ। अब किसी आचार्यने अध्यात्म भाषासे नयके भेदोंका स्वरूप लिखा है उसे लिखते हैं—

नयके मूल भेद दो हैं—एक निश्चय दूसरा व्यवहार।

१–जिसका अभेदरूप विषय है उसको निश्चयनय कहते हैं ।

२–जिसका भेदरूप विषय है उसको व्यवहारनय कहते हैं ।

निश्चयनयके दो भेद हैं–एक शुद्धनिश्चयनय, दूसरा अशुद्धनिश्चयनय ।

१–जो निरूपाधिक गुण गुणीको अभेद रूप ग्रहण करता है उसको शुद्धनिश्चयनय कहते हैं, जैसे जीव केवलज्ञानस्वरूप है ।

२–जो सोपाधिक गुण गुणीको अभेदरूप ग्रहण करता है उसको अशुद्धनिश्चयनय कहते हैं, जैसे जीव मतिज्ञानरूप है ।

व्यवहारनयके भी दो भेद हैं—एक सद्भूतव्यवहारनय और दूसरा असद्भूतव्यवहारनय ।

जो एक पदार्थमें गुण गुणीको भेदरूप ग्रहण करता है उसको सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं, उसके दो भेद हैं—एक उपचरितसद्भूत दूसरा अनुपचरितसद्भूत ।

३–जो सोपाधिक गुण गुणीको भेदरूप ग्रहण करता है उसको उपचरितसद्भूतव्यवहार कहते हैं, जैसे जीवके मतिज्ञानादिक गुण हैं ।

४–जो निरुपाधिक गुण गुणीको भेदरूप ग्रहण करता हैं उसको अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय कहते हैं, जैसे जीवके केवलज्ञानादिक गुण हैं ।

जो भिन्न पदार्थको अभेदरूप ग्रहण करता है उसको असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं । उसके भी दो भेद हैं—एक उपचरितासद्भूतव्यवहार, दूसरा अनुपमचरितसद्भूतव्यवहारनय ।

५–जो संश्लेषरहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करता है उसे उपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते हैं, जैसे आभरणादिक मेरे हैं ।

६–जो संश्लेषरहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करता है उसे अनुपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते हैं, जैसे शरीर मेरा है।

यद्यपि ये छह भेद किसी आचार्यने अध्यात्म सम्बन्धमें संक्षेपसे कहे हैं, परन्तु ये छह भेद प्रथम कहे हुए ३६ भेदोंमेंसे किसी न किसी भेदमें गर्भित हो जाते हैं; अर्थात् शुद्ध निश्चयनय भेदविकल्पनिरक्षेप शुद्धद्रव्यार्थिकमें, अशुद्धनिश्चयनय कार्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकमें, उपचरितसद्भूतव्यवहारनय अशुद्धसद्भूतव्यवहारनयमें, अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय, शुद्धसद्भूतव्यवहारनयमें, अनुपरित और उपचरितसद्भूतव्यवहारनय उपचरित (उपचरितासद्भूत) व्यवहारनयमें गर्भित हैं। इस प्रकार नयका कथन समाप्त हुआ।

अब आगे निक्षेपका कथन इस प्रकार है। प्रथम ही निक्षेप सामान्यका लक्षण कहते हैं—

जुत्तासुजुत्तमग्गे जंचउभेयेण होइ खलु ठवणं।
कज्जे सदिणामादिसु त णिक्खेत्रं हवे समए॥

युक्ति करके सुयुक्तमार्ग होते हुए कार्यके वशतें नाम स्थापना द्रव्य और भावमें पदार्थके स्थापनको निक्षेप कहते हैं।

भावार्थ—एक द्रव्यमें अनेक स्वभाव हैं। इसीलिये अनेक स्वभावोंकी अपेक्षासे उसका विचार भी अनेक प्रकारसे होता है। अतएव उस द्रव्यके मुख्य चार भेद किये हैं। अर्थात् १. नामनिक्षेप, २. स्थापनानिक्षेप, ३. द्रव्यनिक्षेप, ४. भावनिक्षेप।

१–जिस पदार्थमें जो गुण नहीं है उसको उस नामसे कहना नामनिक्षेप है। जैसे किसीने अपने लड़केका नाम हाथीसिंह रक्खा है, परन्तु उस लड़केमें हाथी और सिंहके गुण नहीं हैं।

२-साकार अथवा निराकार पदार्थमें वह यह है इस प्रकार अवधान करके निवेश करना उसको स्थापनानिक्षेप कहते हैं, जैसे पार्श्वनाथके प्रतिबिंबको पार्श्वनाथ कहना, अथवा पुष्पमें अर्हंतकी स्थापना करना। स्थापनानिक्षेपमें मूल पदार्थवत् सत्कार पुरस्कारकी प्रवृत्ति होती है, किन्तु नामनिक्षेपमें नहीं होती, जैसे किसीने अपने लड़केका नाम पार्श्वनाथ रख लिया तो उस लड़केका पार्श्वनाथवत् सत्कार पुरस्कार नहीं होता किन्तु प्रतिमामें होता है।

३-जो पदार्थ अनागत परिणामकी योग्यता रखनेवाला होता है उसको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं, जैसे राजाका पुत्र आगामी कालमें राजा होनेके योग्य है इस कारण राजपुत्रको राजाका द्रव्यनिक्षेप कहते हैं उस द्रव्यनिक्षेपके दो भेद हैं—एक आगमद्रव्यनिक्षेप और दूसरा नोआगमद्रव्यनिक्षेप।

१-निक्षेप्य पदार्थके प्ररूपक शास्त्रके उपयोगरहित ज्ञाताको आगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे कि, सुदर्शनमेरुका स्वरूप निरूपण करनेवाला त्रैलोक्य-सार ग्रन्थका जाननेवाला पुरुष जिस काल सुदर्शनमेरुके कथनमें उपयुक्त (उपयोग सहित) नहीं है उस कालमें उस जीवको सुदर्शनमेरुका आगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं इस ही प्रकार दूसरे जीवादिक पदार्थोंपर भी लगाना।

२-नोआगमद्रव्यनिक्षेपके तीन भेद हैं—१ ज्ञायक शरीर, २ भावी, ३ तद्व्यतिरिक्त।

१-निक्षेप्यपदार्थ निरूपक शास्त्रके अनुपयुक्त ज्ञाताके शरीरको ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे जीव पदार्थका प्ररूपक जो शास्त्र है उस शास्त्रके अनुपयुक्त ज्ञाताके शरीरको जीवका ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं। उस शरीरके भी तीन भेद हैं—१ भूत, २ भविष्यत, ३ वर्तमान।

१–जिस शरीरको छोड़कर ज्ञाता आया है उसको भूत शरीर कहते हैं।

२–जिस शरीरको ज्ञाता आगामी कालमें धारण करेगा उसको भविष्यत् शरीर कहते हैं।

३–ज्ञाताके वर्तमान शरीरको वर्तमान कहते हैं।

भूत शरीरके तीन भेद हैं—१ च्युत, २ च्यावित, ३ त्यक्त।

१–जो शरीर अपनी आयु पूर्ण करके छूटे उसको च्युत कहते हैं।

२–जो विषभक्षणादि निमित्तवश अकाल मृत्यु द्वारा शरीर छूटता है उसको च्यावित शरीर कहते हैं।

३–जो शरीर सन्यासमरणसे छूटता है उसको त्यक्त कहते हैं।

२–निक्षेप्य पदार्थके उपादान कारणको भावीनोआगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे अर्हंत सिद्धोंके अथवा देवायुबद्धमनुष्य देवका भावीनोआगमद्रव्यनिक्षेप है।

३–तद्द्रव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपके दो भेद हैं—१ कर्म, २ नोकर्म।

१–जिस कर्मकी जो अवस्था निक्षेप्यपदार्थकी उत्पत्तिको निमित्तभूत है उस ही अवस्थाको प्राप्त वह कर्म निक्षेप्यपदार्थका कर्मतद्द्रव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेप कहलाता है।

२–उस कर्मकी उस अवस्थाको बाह्यकारण निक्षेप्यपदार्थका नोकर्मतद्द्रव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेप कहलाता है। जैसे क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त मतिज्ञानावरणकर्म मतिज्ञानका कर्मतद्द्रव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेप है और पुस्तकाभ्यास दुग्ध बादाम वगैरह मतिज्ञानका नोकर्म तद्द्रव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेप है।

४–वर्तमानपर्याय संयुक्त वस्तुको भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे

राज्य करतेको राजा कहना अथवा सम्यग्दर्शनयुक्तको सम्यग्दृष्टि कहना इसके भी दो भेद हैं—१ आगमभावनिक्षेप, २ नोआगम-भावनिक्षेप ।

१–निक्षेप्यपदार्थस्वरूपनिरूपकशास्त्रके उपयोग विशिष्ट ज्ञाता जीवको आगमभावनिक्षेप कहते हैं; जैसे उपयोगसहित पंचास्तिकाय शास्त्रका ज्ञाता जीव पंचास्तिकायका आगमभावनिक्षेप है ।

२–तत्पर्याय करके युक्त वस्तुको नोआगमभावनिक्षेप कहते हैं; जैसे मनुष्यपर्याय संयुक्त जीव, मनुष्यका नोआगमभावनिक्षेप है, इस प्रकार निक्षेपका कथन समाप्त हुआ ।

इति लक्षणप्रमाणनयनिक्षेपनिरूपकः
प्रथमोऽधिकारः समाप्तः

द्वितीय अधिकार

(द्रव्यसामान्यनिरूपण)

द्रव्यका सामान्य लक्षण पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है—

दवदि दविस्सदि दविदं जं सब्भावे विहावपज्जाए।
तं णइ जीवो पोग्गल धम्माधम्मं च कालं च ॥ १ ॥
तिक्काले जं सत्तं वट्टदि उप्पादवयधुवत्तेहिं।
गुणपज्जायसहावं अणादि सिद्धं खु तं हवे दव्वं ॥ २ ॥

१. अर्थात् जो स्वभाव अथवा विभाव पर्यायरूप परिणमें है, परिणमेगा, और परिणम्या सो आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल भेदरूप द्रव्य है। अथवा २. जो तीन कालमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूपसतकरिसहित होवे उसे 'द्रव्य' कहते हैं, तथा ३. जो गुणपर्यायसहित अनादि सिद्ध होवे उसे द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार द्रव्यके तीन लक्षण कहे हैं।

उनमेंसे पहला लक्षण द्रव्य शब्दकी व्युत्पत्तिकी मुख्यता लेकर कहा है। इस लक्षणमें स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ये दो पद आये हैं, उनको स्पष्ट करनेके लिये प्रथम ही पर्यायसामान्यका लक्षण कहते हैं। द्रव्यमें अंशकल्पनाको पर्याय कहते हैं। उस अंशकल्पनाके दो भेद कहे हैं—एक देशांशकल्पना, और दूसरी गुणांशकल्पना।

देशांशकल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते हैं। यदि कोई यहां ऐसी शंका करै कि, जब गुणोंका समुदाय है सो ही द्रव्य है, गुणोंसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए द्रव्यपर्याय भी कोई पदार्थ

नहीं हो सकता। (समाधान) यद्यपि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है, परन्तु समस्त गुणोंके पिण्डको देश कहते हैं, और प्रत्येक गुण समस्त देशमें होता है।

इस कारण देशके एक अंशमें समस्त गुणोंका सद्भाव है। ऐसी अवस्थामें उसको एक गुणकी पर्याय नहीं कह सकते; अर्थात् उस देशांसमें समस्त गुण हैं और समस्त गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं। इसलिए देशांशको द्रव्यपर्याय कहना ही समुचित होता है, गुणांशकल्पनाको गुणपर्याय कहते हैं। गुणपर्यायके दो भेद हैं—एक अर्थगुणपर्याय, दूसरा व्यंजनगुणपर्याय।

१. ज्ञानादिक भाववती शक्तिके विकारको 'अर्थगुणपर्याय' कहते हैं। २. प्रदेशवत्वगुणरूपक्रियावती शक्तिके विकारको 'व्यंजनगुणपर्याय' कहते हैं।

इस ही व्यंजनगुणपर्यायको द्रव्यपर्याय भी कहते हैं, क्योंकि व्यंजनगुणपर्याय द्रव्यके आकारको कहते हैं। सो यद्यपि यह आकार प्रदेशवत्व शक्तिका विकार है, इसलिए इसका मुख्यतासे प्रदेशवत्वगुणसे सम्बन्ध होनेके कारण इसे व्यंजनगुणपर्याय कहना उचित है। तथापि गौणतासे इसका देशके साथ भी सम्बन्ध है, इसलिए देशांशको द्रव्यपर्यायकी उक्तिकी तरह इसको भी द्रव्यपर्याय कह सकते हैं।

अब आगे जहां द्रव्यपर्याय अथवा व्यंजनपर्याय शब्द आवै, तो इन शब्दोंसे व्यंजनगुणपर्याय समझना; और गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय शब्दोंसे अर्थगुणपर्याय समझना। इन दोनोंके स्वभाव और विभावकी अपेक्षासे दो दो भेद हैं, अर्थात्—१ स्वभावद्रव्यपर्याय, २ विभावद्रव्यपर्याय, ३ स्वभावगुणपर्याय, ४ विभावगुणपर्याय।

जो निमित्तांतरके बिना होवे उसे स्वभाव कहते हैं, और

जो दूसरेके निमित्तसे होय उसको विभाव कहते हैं, जैसे कर्मरहित शुद्ध जीवके जो ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य हैं वे जीवके स्वभावगुणपर्याय हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान ये जीवके विभावगुणपर्याय हैं।

मुक्तजीवके जो अन्तिम शरीरके आकार प्रदेश हैं सो जीवकी स्वभावद्रव्यपर्याय है। संसारी जीवका जो शरीराकार परिणाम है उसको जीवकी विभावद्रव्यपर्याय कहते हैं।

परमाणुमें जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण होते हैं वे पुद्गलकी स्वभावगुणपर्याय हैं, स्कन्धोंमें जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण होते हैं वे पुद्गलकी विभावगुणपर्याय हैं।

जो अनादिनिधन कार्यरूप अथवा कारणरूप पुद्गलपरमाणु है सो पुद्गलकी स्वभावद्रव्यपर्याय है। पृथिवि, जलादिक जो नानाप्रकारके स्कन्ध हैं वे पुद्गलकी विभावद्रव्यपर्याय हैं। विभावपर्याय जीव और पुद्गलमें ही होती है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यमें स्वभावपर्याय ही होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्यमें अवगाहहेतुत्व, कालद्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व स्वभावगुणपर्याय हैं।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य जिस जिस प्रकारसे संस्थित हैं वे उनकी स्वभावद्रव्यपर्याय हैं।

समस्त द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणका जो परिणाम होता है, वे सब द्रव्योंकी स्वभावगुणपर्याय हैं।

आगे द्रव्यके दूसरे सत्‌लक्षणका स्वरूप लिखते हैं।

सत् सत्ता अस्तित्व ये तीनों द्रव्यकी एक शक्तिविशेषके वाचक हैं। गुणगुणीकी भेदविवक्षासे द्रव्यका लक्षण सत् है।

और गुणगुणीकी अभेदविवक्षासे द्रव्य सन्मात्र है अर्थात् स्वतः सिद्ध है, अतएव अनादिनिधन स्वसहाय और निर्विकल्प है। ऐसा नहीं माननेसे १ असत्की उत्पत्ति, २ सत्का विनाश, ३ युतसिद्धतत्व, ४ परतः प्रादुर्भाव ये चार दोष उपस्थित होते हैं।

१—असत्की उत्पत्ति माननेसे द्रव्य अनन्त हो जांयगे और मृत्तिकाके विना भी घटकी उत्पत्ति होने लगेगी।

२—सत्का विनाश माननेसे एक२ पदार्थका नाश होते२ कदाचित् सर्वाभावका प्रसंग आवेगा।

३—युतसिद्धत्व माननेसे गुण और गुणीके पृथक्प्रदेशपना ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें गुण और गुणी इन दोनोंके लक्षणके अभावका प्रसंग आवेगा। और लक्षणके विना वस्तुका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण गुण और गुणी दोनोंके अभावका प्रसंग आता है।

भावार्थ—लक्षणके दो भेद हैं, एक अनात्मभूत दूसरा आत्मभूत। जो लक्ष्यसे अभिन्नप्रदेशवाला होता है उसको आत्मभूत कहते हैं, जैसे अग्निका उष्णपना। और जो लक्ष्यसे भिन्न प्रदेशवाला होता है उसको अनात्मभूत कहते हैं जैसे पुरुषका लक्षण दण्ड। जिस प्रकार दण्ड लंबाई, गोलाई, चिकनाई आदि लक्षणोंसे भिन्न सत्तावाला सिद्ध है। और हस्तपादादि लक्षणोंसे पुरुष भिन्न सत्तावाला सिद्ध है।

इस प्रकार अग्नि और उष्णताके भिन्न२ लक्षण न होनेके कारण भिन्न२ सत्तावाले सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि अग्निसे भिन्न उष्णता और उष्णतासे भिन्न अग्नि प्रतीति अगोचर है। इस ही प्रकार सत् द्रव्यका आत्मभूत लक्षण है, युतसिद्ध नहीं है। युतसिद्ध माननेमें अग्नि और उष्णताकी तरह द्रव्य और सत्

दोनोंके अभावका प्रसंग आता है, अथवा थोडी देरके लिये मान भी लिया जाय कि गुण और गुणी भिन्न हैं। अर्थात् जीव और ज्ञान भिन्न२ हैं। पीछे समवाय पदार्थके निमित्तसे दोनोंका सम्बंध हुआ है तो जीव और ज्ञानका सम्बन्ध होनेसे पहले जीव ज्ञानी था कि अज्ञानी?

यदि कहोगे कि ज्ञानी था तो ज्ञानगुणका सम्बन्ध निष्फल हुआ। यदि अज्ञानी था तो अज्ञानगुणके सम्बन्धसे अज्ञानी था अथवा स्वभावसे? यदि स्वभावसे अज्ञानी था तो स्वभावसे ज्ञानी माननेमें क्या हानि है? यदि अज्ञान गुणके सम्बन्धसे अज्ञानी है तो अज्ञान गुणके सम्बन्धसे पहले अज्ञानी था कि ज्ञानी? यदि अज्ञानी था तो अज्ञान गुणका सम्बन्ध निष्फल हुवा, यदि कहो कि ज्ञानी था तो ज्ञानका समबाय तो है ही नहीं! ज्ञानी किस प्रकार कह सकते हो?

इस ही प्रकार यदि जीवमें ज्ञानके सम्बन्धसे जाननेकी शक्ति है तो ज्ञानमें किसके सम्बन्धसे जाननेकी शक्ति है? यदि कहोगे कि ज्ञानमें स्वभावसे जाननेकी शक्ति है, जीवमें स्वभावसे जाननेकी शक्ति माननेमें क्या हानि है?

यदि कहोगे कि ज्ञानमें ज्ञानत्वके सम्बन्धसे जाननेकी शक्ति है तो ज्ञानत्वमें भी किसी दूसरेकी और उसमें भी किसी औरकी आवश्यकता होनेसे अनवस्था दोप आवेगा। यदि यहां कोई इस प्रकार शंका करें कि समवाय नामक अयुतसिद्ध लक्षण सम्बन्ध है उसके निमित्तसे अभिन्न सदृश गुणगुणी प्रतीत होते हैं, ज्ञानत्वके समवायसे ज्ञानमें जाननेकी शक्ति है और ज्ञानगुणके समवायसे जीव ज्ञानी है।

सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई नियामक नहीं है कि ज्ञानगुणका जीवसे ही सम्बंध होय आकाशादिकसे न होय। उष्ण गुणका अग्निके ही साथ सम्बन्ध होय जलादिकके साथ

न होय । यदि कहोगे, कि इस सम्वन्धमें स्वभावहेतु है तो इससे गुण गुणीका परिणाम ही सिद्ध होता है ।

भावार्थ—गुणोंका समुदाय है सो ही गुणी है । समुदायसमुदायीकी अपेक्षा गुणगुणीमें भेद है । प्रदेश अपेक्षा भेद नहीं है । सिवाय इसके समवायरूप भिन्न पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि द्रव्यगुणकी जब समवाय सम्बन्धसे वृत्ति मानते हो तो समवायरूप भिन्न पदार्थकी द्रव्यादिकके साथ किस सम्बन्धसे वृत्ति मानोगे ? यदि समवायान्तरसे मानोगे तो उसके वास्ते भी फिर दूसरे और दूसरेके वास्ते किसी अन्यकी आवश्यकता होनेसे अनवस्था दोष आवैगा ।

यदि संयोगसम्बन्धसे समवायकी वृत्ति मानेगे सो भी ठीक नहीं है क्योंकि समवायको द्रव्यादिकके साथ युतसिद्ध सम्बंध नहीं है, और संयोग सम्बन्ध युतसिद्धमें ही होता है । क्योंकि युतसिद्ध पदार्थोंकी अप्राप्ति पूर्वक प्राप्तिको ही संयोग कहते हैं । संयोगसम्बंध और समवाय सम्बन्धसे विलक्षण तीसरा कोई सम्बन्ध नहीं है । इस कारण समवाय खरविषाणवत् कोई पदार्थ ही नहीं है ।

जिनमतमें दो सम्बंध माने हैं-एक संयोग सम्बंध, दूसरा तादात्म्य सम्बंध । भिन्न प्रदेश पदार्थोंके सम्बंधको संयोग सम्बंध कहते हैं । जैसे दूध और पानी, और अभिन्न प्रदेश पदार्थोंके सम्बन्धको तादात्म्य सम्बंध कहते हैं । जैसे अग्नि और उष्णता । यह तादात्म्य सम्बंध ही जिनमतका समवाय सम्बंध है । इस प्रकार युतसिद्धत्व माननेमें अनेक दोष आते हैं ।

४—परत:प्रादुर्भाव माननेमें उसकी उत्पत्ति उससे और उसकी उससे इस प्रकार अनवस्था दोष आवेगा, इस कारण द्रव्यका पूर्वोक्त लक्षण निर्दोष है । अब आगे सत्ताका विशेष स्वरूप कहते हैं—

पहले अनन्त शक्तियोंके समुदायको द्रव्य कह आए हैं। उन ही अनन्त शक्तियोंमेंसे जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कभी भी अभाव नहीं होता, उसको सत्ता, सत्, और अस्तित्व इन तीन शब्दोंसे कहते हैं वह सत्ता समस्त पदार्थोंमें है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उस सत्ताके दो भेद हैं। एक सत्तासामान्य और दूसरी सत्ताविशेष।

सत्तासामान्यका दूसरा नाम महासत्ता है और सत्ताविशेषका दूसरा नाम अवान्तरसत्ता है। महासत्ता अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है किन्तु अवान्तरसत्ताकी अपेक्षासे सत्ता नहीं है, अर्थात् असत्ता है इस ही प्रकार अवान्तरसत्ता भी महासत्ताकी अपेक्षासे असत्ता है। अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है महासत्ता सकल पदार्थोंमें रहनेवाली है। इस कारण इसको " सर्वपदार्थस्थिता " कहते हैं।

अवान्तरसत्ता एक पदार्थमें रहनेवाली है। इस कारण उसको 'एक पदार्थस्थिता' कहते हैं, क्योंकि प्रतिनियत पदार्थमें स्थित सत्तासे ही पदार्थोंका प्रतिनियम होता है।

महासत्ता समस्त पदार्थोंके समस्त स्वरूपोंमें विद्यमान है। इस कारण इसको 'सविश्वारूपा' कहते हैं। प्रतिनियत एक रूप सत्तासे ही पदार्थोंका प्रतिनियत एकरूपपना होता है इस कारण अवान्तर सत्ताको 'एकरूपा' कहते हैं।

महासत्ता पदार्थोंकी अनन्तपर्यायोंमें विद्यमान है, इस कारण इसको 'अनन्तपर्याय' कहते हैं। प्रतिनियतपर्याय सत्तासे ही प्रतिनियत एक एक पर्यायके समूहसे पर्यायोंकी अनन्तता होती है इस कारण अवान्तर सत्ताको 'एकपर्याया' कहते हैं।

महासत्ता समस्त पदार्थोंकी सादृश्यसूचिका है इस कारण उसको 'एका' कहते हैं।

एक वस्तुकी जो स्वरूपसत्ता है वही दूसरी वस्तुकी स्वरूप-

सत्ता नहीं है। इस कारण अवान्तर सत्ताको "अनेका", कहते है।

वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा क्षणिक है। जो वस्तुको सर्वथा नित्य मानिये तो प्रत्यक्षसे वस्तु विकार सहित दीखती है। इस कारण सर्वथा नित्य नहीं मान सकते और जो वस्तुको सर्वथा क्षणिक मानिये तो प्रत्यभिज्ञान (यह पदार्थ वही है जो पहिले था) के अभावका प्रसंग आवेगा। इस कारण प्रत्यभिज्ञानको कारणभूत किसी स्वरूप करके ध्रौव्यको अवलम्बन करनेवाली और क्रमप्रवृत्त किसी स्वरूप करके उपजती और किसी स्वरूप करके विनसती एक ही काल तीन अवस्थाओंको धारण करनेवाली वस्तुको सत् कहते हैं अतएव महासत्ताको भी "उत्पादद्रव्य ध्रौव्यात्मिका" समझना।

क्योंकि, भाव (सत्) और भगवान् (द्रव्य) में कदाचित् अभेद है। वस्तु जिस स्वरूपसे उत्पन्न होती है उस स्वरूपसे उसका व्यय और ध्रौव्य नहीं है। जिस स्वरूपसे वस्तुका व्यय है उस स्वरूपसे उत्पाद और ध्रौव्य नहीं है। जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है उस स्वरूपसे उत्पाद और व्यय नहीं है इस कारण अवान्तर सत्ता एक एक लक्षणस्वरूप नहीं है इस कारण उसे 'अत्रिलक्षणा' कहते हैं सोई कुन्दकुन्दस्वामीने कहा है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।

उप्पादवयधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एगा ॥ १ ॥

अब उत्पादव्यय ध्रौव्यका विशेष स्वरूप लिखते हैं—

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीनों द्रव्यके नहीं होते किन्तु पर्यायोंके होते हैं परन्तु पर्याय द्रव्यको भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप कहा है। परिणमन स्वरूप द्रव्यकी नूतन अवस्थाको उत्पाद कहते हैं परन्तु यह उत्पाद भी द्रव्यका स्वरूप

ही इस कारण यह भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत् और असत् भावकरके निबद्ध है। व्यय भी द्रव्यका नहीं होता किन्तु वह व्यय द्रव्यकी अवस्थाका व्यय है इसको ही "प्रध्वंसाभाव" कहते हैं सो परिणामी द्रव्यके यह प्रध्वंसाभाव अवश्य ही होना चाहिये। द्रव्यका ध्रौव्यस्वरूप है सो कथंचित् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है, केवल द्रव्यका ही ध्रौव्य नहीं है किन्तु उत्पाद और व्ययकी तरह यह ध्रौव्य भी एक अंश है सर्वांश नहीं है। पूर्वाचार्योंने जो "तद्भावाव्ययं ध्रौव्यम्" यह ध्रौव्यका लक्षण कहा है उसका भी स्पष्टार्थ यही है कि, जो परिणाम पहिले है वही परिणाम पीछे है। जैसे पुष्पका गन्ध परिणाम है और वह गन्ध गुण भी परिणामी है, अपरिणामी नहीं है परंतु ऐसा नहीं है कि, पहिले पुष्प गन्धरहित था और पीछे गन्धवान् हुआ। जो परिणाम पहिले था वही पीछे है इस हीका नाम ध्रौव्य है।

इनमेंसे व्यय और उत्पाद यह दोनों अनित्यताके कारण हैं और ध्रौव्य नित्यताका कारण है। यहां कोई ऐसा समझे, कि

---

(१) जिनमतमें चार अभाव माने हैं—१. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३. अन्योन्याभाव और ४. अत्यंताभाव। द्रव्यकी वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायका वर्तमान समयसे पहिले जो अभाव है उसको प्रागभाव कहते हैं। तथा उस हीका वर्तमान समयसे पीछे जो अभाव है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। द्रव्यकी एक पर्यायके सजातीय अन्य पर्यायमें अभावको अन्योऽन्याभाव कहते हैं, और उस हीके विजातीय पर्यायमें अभावको अत्यंताभाव कहते हैं। जैसे घटोत्पत्तिसे पहिले घटका प्रागभाव है घट विनाशसे पीछे घटका प्रध्वंसाभाव है। घटकापटमें अन्योऽन्याभाव है और घटकाजीवमें अत्यंताभाव है।

द्रव्यमें सत्व अथवा कोई गुण सर्वथा नित्य है और व्यय और उत्पाद ये दोनों उससे भिन्न परणतिमात्र हैं ऐसा नहीं है क्योंकि, ऐसा होनेसे सब विरुद्ध हो जाता है। प्रदेशभेद होनेसे न गुणकी सिद्धि होती है न द्रव्यकी न सत्की और न पर्यायकी, किन्तु इसके सिवाय यह दोप और आवेगा कि, जो नित्य है वह नित्य ही रहेगा और जो अनित्य है वह अनित्य ही रहेगा क्योंकि, एकके परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म नहीं हो सकते और ऐसी अवस्थामें द्रव्यान्तरकी तरह द्रव्यगुणपर्यायमें एकतत्व कल्पनाके अभावका प्रसंग आवेगा। यदि कोई कहै कि, समुद्रकी तरह द्रव्य और गुण नित्य हैं। और पर्याय, कल्लोलोंकी तरह उपजती विनसती हैं सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि, यह दृष्टान्त प्रकृतका बाधक और उसके विपक्षका साधक है। कारण, इस दृष्टान्तकी उक्तिसे समुद्र कोई भिन्न पदार्थ है जो नित्य है और कल्लोल कोई भिन्न पदार्थ है जो उपजता है और विनसता है ऐसा प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें पदार्थका स्वरूप ऐसा है कि, कल्लोलमालाओंके समूहका ही नाम समुद्र है। जो समुद्र है सो ही कल्लोलमाला है।

स्वयं समुद्र ही कल्लोलस्वरूप परिणमें है इस ही प्रकार जो द्रव्य है सो ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप है स्वयं द्रव्य (सत्) उत्पादस्वरूप व्ययस्वरूप और ध्रौव्यस्वरूप परिणमें है। सत् (द्रव्य) से अतिरिक्त उत्पादव्यय ध्रौव्य कुछ भी नहीं हैं भेद-विकल्प निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण, और पर्याय कुछ भी नहीं हैं। केवल मात्र सत् (द्रव्य) है और भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वही सत्, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन स्वरूप हो जाता है और जो इस भेद विवक्षाको छोड देते तो फिर वही सन्मात्र वस्तु रह जाती है। अब यदि यहां कोई शंका करै कि,

उत्पाद और व्यय ये दोनों अंश हो सकते हैं परन्तु ध्रौव्य तो त्रिकालविषयक है इस कारण वह किस प्रकार अंश कहा जावें सो यह शंका उचित नहीं है। ऐसा नहीं है कि, सत् एक पदार्थ है और उत्पाद व्यय ध्रौव्य उसके तीन अंश हैं। जैसे वृक्ष एक पदार्थ है और फलपुष्पादि उसके अंश हैं इस प्रकार उत्पादादिक सत्के अंश नहीं हैं, किन्तु स्वयं सत् ही प्रत्येक अंशस्वरूप है। यदि सत् (द्रव्य) उत्पादलक्ष्य है अथवा उत्पादस्वरूप परिणमैं है तो वस्तु केवल उत्पाद मात्र है, यदि वस्तु व्ययलक्ष्य है अथवा व्ययनियत है तो वस्तु केवल व्ययमात्र है, यदि वस्तु ध्रौव्यलक्ष्य है अथवा ध्रौव्यस्वरूप परिणत है तो वस्तु ध्रौव्य मात्र है। जैसे मृत्तिका। यदि सत्स्वरूपघटलक्ष्य है तो मृत्तिका केवल घटमात्र ही है, यदि असत् स्वरूप पिण्डलक्ष्य है तो मृत्तिका केवल पिण्डमात्र है और यदि मृत्तिका केवल मृत्तिकापने कर लक्ष्य है तो मृत्तिका केवल मृत्तिकात्व मात्र है।

इस प्रकार सत्के उत्पादादिक तीन अंश हैं। ऐसा नहीं है कि, वृक्षमें फल पुष्पकी तरह किसी एक भागस्वरूप अंशसे सत्का उत्पाद है तथा किसी एक एक भागस्वरूप अंशसे व्यय और ध्रौव्य है। अब यहां फिर कोई शंका करे कि, ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य अंशोंके हैं कि अंशीके, अथवा सत्के अंशमात्र हैं अथवा असत् अंश भिन्न हैं।

इसका समाधान इस प्रकार है कि, यदि इन पक्षोंको सर्वथा एकान्तस्वरूप माना जाय तो सब विरुद्ध हैं और इनहीको जो अनेकान्तपूर्वक किसी अपेक्षा-विशेषसे माना जाय तो सर्व अविरुद्ध हैं। केवल अंशोंका अथवा केवल अंशीका न उत्पाद है न व्यय है और न ध्रौव्य है। किन्तु अंशीका अंश करके उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है। अब यहां फिर कोई शंका करता है कि,

एक ही पदार्थके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीन धर्म कहते हो सो प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। इसमें कोई युक्ति भी है अथवा वचन मात्रसे ही सिद्ध है।

उसका समाधान इस प्रकार है कि, यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोंमें क्षणभेद होता अथवा स्वयं सत् ही उपजता और स्वयं सत् ही विनसता, तो यह विरोध आता सो ऐसा कभी किसीके किसी प्रकार न हुआ और न होय। क्योंकि, इसका साधक न कोई प्रमाण है और न कोई दृष्टान्त है। किन्तु वही सत् (द्रव्य) पूर्व समयमें एकरूप था सो दूसरे समयमें सत्का वही एकरूप अन्य स्वरूप हो गया है। न तो सत्का नाश हुआ और न सत्की उत्पत्ति हुई किन्तु एकाकाररूप हो गया है। और आकार बदलनेमें स्वयं वस्तुके उत्पत्ति विनाश मानना न्यायसंगत नहीं है।

इस कारण जो अवस्था पहले थी वह अवस्था अब नहीं है इसहीका नाम व्यय है। जो अवस्था पहले नहीं थी वह अब है इसहीका नाम उत्पाद है। जो भाव पहले था वही भाव अब है इसहीका नाम ध्रौव्य है। ऐसा नहीं है कि, उत्पादका समय भिन्न है व्ययका समय भिन्न है और ध्रौव्यका समय भिन्न है क्योंकि, उत्पाद और व्ययका भिन्न समय माननेसे द्रव्यके लोपका प्रसंग आता है सोई दिखाते हैं कि, उत्पाद और व्ययका भिन्न समय माननेसे पदार्थकी स्थिति इस प्रकार होगी कि, प्रथम समय पिण्डपर्यायका है, द्वितीय समय पिण्डपर्यायव्ययका, तृतीय समय घटपर्यायके उत्पादका है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि, द्वितीय समयमें उस मृत्तिका द्रव्यका कौनसा पर्याय है? यदि कहोगे कि, पिण्डपर्याय है सो हो नहीं सकता क्योंकि, एक ही समयमें पिण्डपर्यायका

सद्भाव और अभाव (व्यय) का प्रसंग आया सो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि कहोगे कि, उस द्वितीय समयमें मृत्तिका द्रव्यके घट-पर्याय है सो भी युक्त नहीं हो सकता क्योंकि अभी घटपर्यायका उत्पाद ही नहीं हुआ है। यदि कहोगे कि, उस द्वितीय समयमें कोई भी पर्याय नहीं है तो पर्यायके अभावका प्रसंग आया, किन्तु पर्याय और पर्यायीमें तादात्म्य सम्बन्ध है इस कारण पर्यायके अभावमें पर्यायी (द्रव्य) के भी अभावका प्रसंग आया, इस कारण उत्पाद और व्ययका एक ही समय मानना समुचित है। और जब उत्पाद और व्ययका एक ही समय है तो उस ही समयमें ध्रौव्य भी अवश्य है। क्योंकि जिस प्रकार पिण्डपर्यायके समयमें मृत्तिकात्व था उस ही प्रकार घटपर्यायके समयमें भी मृत्तिकात्व है इसहीका नाम ध्रौव्य है। अब इस ही भावको एक दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं।

एक सेठके यहाँ तीन मनुष्य आये उनमेंसे एकका नाम धनदत्त, दूसरेका नाम जिनदत्त और तीसरेका नाम इन्द्रदत्त था। धनदत्तके लड़केका विवाह था, इस कारण वह विवाहके वास्ते एक सोनेका घट लेनेको आया था। जिनदत्त सराफ था, वह सेठके यहाँ सोना सामान्य लेनेकी इच्छासे आया था। इन्द्रदत्त न्यारिया था, वह सेठके यहाँ टूटाफूटा सोना मंदे भावसे लेनेकी इच्छासे आया था।

सेठके पास एक छोटासा सोनेका घडा रखा हुआ था। अकस्मात् ऊपरकी छतके रोशनदानमेंसे एक लोहेका गोला उस सुवर्ण घटके ऊपर इस जोरसे गिरा कि उस घड़ेके टुकडे-टुकडे हो गये।

जिस समय वह घड़ा फूटा है उस समयमें धनदत्तके विषाद रूप परिणाम हुए, क्योंकि वह विवाह निमित्त सुवर्ण

घट लेनेकी इच्छासे आया था, सो घडेके फूट जानेसे उसकी इच्छाका व्याघात हुआ।

इन्द्रदत्तके उस ही समयमें हर्परूप परिणाम हुए, क्योंकि वह टूटाफूटा सोना मंदे-भावसे लेनेकी इच्छासे आया था, सो अव इस घडेके फूटनेसे उसको अपनी इच्छा पूर्ण होनेकी आशा बँधी। जिनदत्तके उस ही समय मध्यस्थ परिणाम रहे, क्योंकि वह सुवर्ण सामान्यका ग्राहक था, सो वही सुवर्ण पहले भी था और अव भी है। इस प्रकार घट फूटनेके समयमें तीन पुरुषोंके भिन्न-भिन्न तीन जातिके परिणाम हुए।

इसलिए कार्यभेदसे कारणभेदका अनुमान होता है। भावार्थ, एक ही समयमें घटपर्यायका व्यय, कपालपर्यायकी उत्पत्ति और सुवर्णभावका ध्रौव्य है। यहाँ शंकाकार फिर कहता है कि, जो द्रव्य उत्पादैक लक्षण है तो अपने ही समयमें उत्पाद होयगा। और व्ययैक लक्षण है, इस कारण व्यय अपने समयमें और ध्रौव्यैक लक्षण है। इस कारण ध्रौव्य अपने समयमें होगा। इस प्रकार तीनोंके भिन्न समय होने चाहिये जैसे बीजांकुर वृक्षके भिन्न समय हैं।

सो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि हेतु और दृष्टांतसे क्षणभेद सिद्ध नहीं होता, किन्तु एक समय ही सिद्ध होता है। उसका खुलासा इस प्रकार है—जो समय बीजपर्यायका है, उस समयमें बीजका सद्भाव है, उस समयमें बीजका व्यय नहीं कहा जा सक्ता। क्योंकि एक ही समयमें बीजका सद्भाव और उस ही समयमें उसका व्यय (अभाव) यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

यदि कहोगे कि, बीजपर्याय और अंकुरपर्याय इन दोनों समयोंके बीचमें एक भिन्न समयमें बीजका व्यय होता है तो उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्यके अभावका प्रसंग आता है। इस

कारण पारिशेष्यसे जो समय अंकुरका है, उस ही समयमें बीजका व्यय है। अब बीजपर्यायके समयमें अंकुरका उत्पाद यदि माना जाय सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही समयमें एक द्रव्यके दो पर्यायका प्रसंग आवेगा सो भी विरुद्ध है।

इस कारण अंकुरका उत्पाद भी अंकुरके समयमें ही है, अन्य समयमें नहीं है। तथा बीज और अंकुर इन दोनोंको सामान्य अपेक्षासे वृक्ष कहा जाय तो वह वृक्षत्व न तो नष्ट हुआ है और न उत्पन्न हुआ है, किन्तु बीजावस्थासे नष्ट हुआ है और अंकुरावस्थासे उत्पन्न हुआ है तो न्यायके बलसे यही सिद्ध होता है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों एक ही समयमें होते हैं। अर्थात् वही वृक्ष बीजस्वरूपसे नष्ट हुआ है और अंकुरस्वरूपसे उत्पन्न हुआ है। जो समय अंकुरकी उत्पत्तिका है वही समय बीजके नाशका है और वृक्षत्व दोनोंका जीवभूत है।

इसकारण वृक्षत्वका भी वही काल है, इसप्रकार यह निर्दोष सिद्ध हुआ कि, एक सत् (द्रव्य) के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ये तीनों पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (सर्वथा नहीं) एक ही समयमें होते हैं। यदि पर्यायनिरपेक्ष केवल सत्के उत्पाद व्यय ध्रौव्य होते तो ही विरोध आता तथा क्षणभेद होता। अथवा जिस पर्यायका उत्पाद है उस ही पर्यायके यदि व्यय और ध्रौव्य होते तो भी विरोध आता, परन्तु यहां प्रकरण तो ऐसा है कि किसी एक पर्यायकरके व्यय है, किसी दूसरी पर्यायकरके उत्पाद है और किसी तीसरी पर्यायकरके ध्रौव्य है।

जैसे वृक्षमें बीज पर्यायकरके व्यय है, अंकुर पर्यायकरके उत्पाद है और वृक्षत्वकरके ध्रौव्य है ऐसा नहीं है कि, बीज पर्यायकरके ही व्यय है बीज पर्यायकरके ही उत्पाद है और बीज पर्यायकरके ही ध्रौव्य है। ऐसा होनेसे प्रत्यक्ष विरोध आता।

उत्पाद और व्यय इन दोनोंका आत्मा (जीवभूत) स्वयं सत् है, इसकारण ये दोनों सद्वस्तु ही हैं सत् भिन्न नहीं हैं।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य हैं किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे न उत्पाद है न व्यय है और न ध्रौव्य है। अब यहां फिर कोई शंका करता है कि, वस्तुको या तो सद्रूपउत्पादस्वरूप ही मानो अथवा असद्रूपव्ययस्वरूप ही मानो अथवा ध्रौव्यस्वरूप ही मानो तीनों स्वरूप कैसे मानते हो सो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि, उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोंका परस्पर अविनाभाव है।

जहां एक नहीं है वहां शेषके दो नहीं है और जहां शेषका एक भी नहीं है वहां शेषका एक भी नहीं है अर्थात् व्यय उत्पादके विना नहीं होता। यदि उत्पादनिरपेक्ष व्यय मानोंगे तो वस्तुका निरन्वय नाश हो जायगा और इसप्रकार सत्के विनाशका प्रसंग आवेगा। तथा उत्पाद भी व्ययके विना संभव नहीं हो सकता क्योंकि, जो व्ययनिरपेक्ष केवल उत्पादको मानोगे तो असत्के उत्पादका प्रसंग आवेगा और विनाकारणके असत्का उत्पाद असंभव है।

इस ही प्रकार ध्रौव्य भी उत्पाद और व्ययके विना नहीं हो सकता क्योंकि, उत्पादव्ययनिरपेक्ष केवल ध्रौव्यको माननेसे द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा सो प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि, प्रत्यक्षसे द्रव्य परिणामी प्रतीत होता है। अथवा उत्पादव्यय विशेष है और ध्रौव्य सामान्य है। वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक है इसकारण उत्पादव्ययरूप विशेषके अभावमें ध्रौव्यरूप सामान्यके भी अभावका प्रसंग आवेगा। तथा ध्रौव्यनिरपेक्ष उत्पादव्यय भी नहीं हो सकते क्योंकि, सर्वक्षणिककी तरह सत्के अभावसे न

व्यय हो सकता है और न उत्पाद हो सकता है। इसप्रकार उत्पादव्यय ध्रौव्यका संक्षेप कथन समाप्त हुआ।

जब यहां फिर कोई शंका करता है कि, पहले वस्तुका स्वरूप निर्विकल्प कहा था सो उस निर्विकल्प एक पदार्थमें इतने विस्तारका क्या कारण है? उसका समाधान -पूर्वाचार्योंने इसप्रकार किया है। जिसप्रकार आकाशमें विष्कंभ (चौड़ाई) के क्रमसे अंगुल, वितस्ति (विलस्त), हस्तादिक अंशविभाग होता है उस ही प्रकार अखण्ड देशरूप बड़े द्रव्यमें अंशविभाग होता है। वे अंश प्रथमअंश द्वितीयअंश इत्यादि क्रमसे अविभागी असंख्यात तथा अनन्त अंश हैं। इन अंशोंमेंसे प्रत्येक अंशको द्रव्यपर्याय कहते हैं सो ठीक ही है क्योंकि, द्रव्यमें अंशकल्पनाको ही पर्याय कहते हैं।

(शंका) इस अंशकल्पना करनेका प्रयोजन क्या है? और जो यह अंशकल्पना नहीं की जाय तो क्या हानि है? (समाधान) गुणोंका समुदायरूप जो पिण्ड है उसको देश कहते हैं, उस देशके न माननेसे द्रव्यका अस्तित्व ही नहीं ठहरता, इसकारण देशका मानना आवश्यक है, उस देशमें जो अंश कल्पना नहीं मानोगे तो द्रव्यमें छोटापन, बड़ापन, कायपन (अनेक प्रदेशीपन), और अकायपन (एकप्रदेशीपन) की सिद्धि नहीं हो सकती।

शंका—जो ऐसा है तो द्रव्यमें अनेक अंश कल्पना न करके प्रत्येक अंशको ही परमाणुकी तरह द्रव्य क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि, उस अंशमें भी द्रव्यका लक्षण मौजूद है।

समाधान—सो ठीक नहीं है क्योंकि, खण्डस्वरूप एकदेश वस्तुमें और अखण्ड स्वरूप अनेक देशवस्तुमें प्रत्यक्षमें परिणामिक बड़ा भारी भेद है, क्योंकि जो वस्तु खण्डरूप एकदेश माना

जायगा तो उस वस्तुमें गुणका परिणमन एक ही देशमें होगा। परन्तु यह वात प्रत्यक्ष वाधित है। वेंतके एक भागको हिलानेसे सव वेंत हिलता है, अथवा शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे उसका बोध सर्वत्र होता है, इसलिये खण्डैक देशरूप वस्तु नहीं है किन्तु अखण्डितानेक देशरूप है। तथापि पुद्गल परमाणु और कालाणु ये खण्डैक देशरूप वस्तु भी हैं, ये ही प्रदेश, विशेप (गुण) करसहित द्रव्यसंज्ञक हैं और उन विशेषोंको गुण कहते हैं। देश उन गुणोंका आत्मा (जीवभूत) है, उन गुणोंकी सत्ता देशसे भिन्न नहीं है और न देश और विशेषमें आधेय आधार सम्बंध है किन्तु उन विशेपोंसे ही देश वैसा है। जैसे तन्तु शुक्लादिक गुणोंका शरीर है वस्तुमें और शुक्लादि गुणोंमें आधार आधेय सम्वन्ध नहीं है किन्तु शुक्लादिक गुणोंसे ही तन्तु वैसा (तन्तु) है।

शंका—जिस प्रकार पुरुष भिन्न है और दण्ड भिन्न है। दण्ड और पुरुपके योगसे पुरुषको दण्डी कहते हैं, उस ही प्रकार देश भिन्न है गुण भिन्न है उस देशको गुणके संयोगसे द्रव्य कहें तो क्या हानि है?

समाधान—सो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे सर्व-संकर दोप आता है चेतना गुणका अचेतन पदार्थोंसे संयोगका प्रसंग आवेगा। (इसका विशेप कथन पहले कर आये हैं वहांसे जानना) इस प्रकार इन निर्विशेप देशविशेपोंसे गुण कहते हैं। गुण, शक्ति, लक्ष्य, विशेप, धर्म, रूप, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सव शब्द एक अर्थके कहनेवाले हैं। देशकी जो एक शक्ति है सो ही अन्य शक्ति नहीं है किन्तु एक शक्तिकी तरह एकदेशकी अनन्त शक्तियाँ हैं।

जैसे—एक आमके फलमें एक समयमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण दिखते हैं ये चारों ही गुण एक नहीं है

किन्तु भिन्न २ हैं। क्योंकि जुदी२ इन्द्रियोंके विषय हैं। उस ही प्रकार एक जीवमें दर्शन, ज्ञान, सुख और चारित्र ये चारों गुण एक नहीं है किन्तु भिन्न हैं। इस ही प्रकार प्रत्येक पदार्थमें अनन्त शक्तियाँ हैं। इन अनन्त गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणमें अनन्तर गुणांश हैं, इस ही गुणांशको अविभाग परिच्छेद कहते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है कि द्रव्यमें एक गुणकी एक समयमें जो अवस्था होती है उसको एक गुणांश कहते हैं, इस हीका नाम गुणपर्याय है।

जिस प्रकार देशमें विष्कम्भ क्रमसे अंशकल्पना है उस प्रकार गुणमें गुणांश कल्पना नहीं है, देशका देशांश केवल एक प्रदेश व्यापी है किंतु गुणका गुणांश एक समयमें उस द्रव्यके समस्त देशको व्यापकर रहता है इसलिये गुणमें अंश कल्पना कालक्रमसे है। प्रत्येक समयमें जो अवस्था किसी गुणकी है उस ही अवस्थाको गुणांश अथवा गुणपर्याय कहते हैं। त्रिकालवर्ती इस सब गुणांशोंको एक आलाप करके गुण कहते हैं।

एक गुणकी सदाकाल एकसी अवस्था नहीं रहती है उसमें प्रायः हीनाधिकता होती रहती है। यद्यपि एक गुणमें प्रायः प्रति समय हीनाधिकता होती रहती है तथापि उसकी मर्यादा है। किसी गुणकी सबसे हीन अवस्थाको जघन्य अवस्था कहते हैं और सबसे अधिक अवस्थाको उत्कृष्ट अवस्था कहते हैं।

ऐसा नहीं है कि, हानि होते होते कभी उसका अभाव हो जायगा अथवा वृद्धि होते होते हमेशा बढ़ता ही चला जायगा, जब कि एक गुणकी अनेक अवस्था हैं और वे सब समान नहीं हैं किन्तु हीनाधिकरूप हैं, तो एक अधिक अवस्थामेंसे हीनावस्था घटानेसे उन दोनों अवस्थाओंका अन्तर निकल सकता है और इस प्रकार एक गुणकी अनेक अवस्थाओंमेंसे दो दो

अवस्थाओंके अनेक अन्तर निकलेंगे और वे सब अन्तर भी परस्पर समान नहीं हैं किंतु हीनाधिक हैं, इन अनेक अन्तरोंमें जो अन्तर सबसे हीन है उसको जघन्य अन्तर कहते हैं। किसी गुणकी जघन्य अवस्था और उसका जघन्य अन्तर समान होते हैं, उस गुणकी जघन्य अवस्था तथा जघन्य अन्तर इन दोनोंको अविभाग परिच्छेद कहते हैं, परन्तु किसी गुणमें उस गुणका जघन्य अन्तर उस गुणकी जघन्य अवस्थाके अनन्तवें भाग होता है, उस गुणमें उस जघन्य अन्तरको ही अविभाग परिच्छेद कहते हैं।

ऐसी अवस्थामें उस गुणकी जघन्य अवस्थामें अनन्त अविभाग परिच्छेद्र कहे जाते हैं जैसे कि, सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्य ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग परिच्छेद हैं, इन अविभाय परिच्छेदोंका आत्मा (जीवभूत) गुण है और गुणसे भिन्न इसकी सत्ता नहीं है। यहां इतना और भी विशेष जानना कि एक समयमें एक गुणकी जो अवस्था है उसके गुणांश अर्थात् गुणपर्याय कहते हैं, परन्तु इस एक गुणपर्यायमें भी अनन्तगुणांश हैं, सो इन गुणांशोंको अविभाग परिच्छेद कहते हैं तथा गुणपर्याय भी कहते हैं।

द्रव्यमें अनन्त गुण हैं, उनके दो विभाग हैं—एक सामान्य दूसरा विशेष। द्रव्यके सामान्य गुणोंमें छह गुण मुख्य हैं १ अस्तित्व, २ द्रव्यत्व, ३ वस्तुत्व, ४ अगुरुलघुत्व, ५ प्रमेयत्व, ६ प्रदेशत्व। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कभी भी अभाव नहीं होता उसको अस्तित्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य एक परिणामसे परिणामान्तररूप परिणमन करता यानी हालतें बदलता है उसको द्रव्यत्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे ऐसा होते हुए भी अर्थात् प्रति समय पर्यायोंके

बदलने पर भी द्रव्यकी अनंत शक्तियाँ एक पिंडरूप रहती हैं उसको वस्तुत्व गुण कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं परणमन करती, अथवा एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं परणमन करता उसको अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य, प्रमाणके विषयपनेको प्राप्त हो उसको प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

शंका—जब कि प्रमाणका यह कार्य है कि पदार्थोंको विषय करना फिर पदार्थोंमें प्रमेयत्व गुण माननेकी क्या आवश्यकता?

समाधान—यद्यपि चुम्बक जो लोहेको अपनी तरफ खींचता है वह अपनी आकर्षक शक्तिके रहने पर भी लोहेको ही खींचता है अन्य लकड़ी वगैरहको नहीं।

इसलिये जिस तरह चुम्बक पत्थरमें खींचनेकी शक्ति रहने पर भी लोहेमें खींचनेकी शक्ति मानी जाती है, उस ही तरह प्रमाणमें पदार्थोंको विषय करनेकी शक्ति मौजूद रहने पर भी पदार्थोंमें प्रमेयत्व प्रमाणके द्वारा विषय होनेकी शक्ति मानी जाती है। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कुछ न कुछ आकार हो उसको प्रदेशवत्व गुण कहते हैं।

द्रव्यके छह भेद हैं—१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश, ६ काल। जीव द्रव्यमें १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ सुख और ४ वीर्य विशेष गुण हैं, इन ही चारों गुणोंको सामान्यालापसे चेतना कहते हैं। पुद्गल द्रव्यमें १ स्पर्श, २ रस, ३ गंध और ४ वर्ण विशेष गुण हैं इन ही चारों गुणोंको सामान्यालापसे मूर्तत्व कहते हैं। धर्म द्रव्यमें गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्यमें अवगाहहेतुत्व और कालद्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व विशेष गुण हैं।

अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद और भंग ये सब शब्द एकार्थवाचक हैं इसलिये गुणांशोंको गुणपर्याय कहना उचित ही है। कोई आचार्य गुणपर्यायको अर्थपर्याय भी कहते हैं सो यहांपर अर्थशब्दको गुणवाचक समझना। और जो पहले देशांशोंको द्रव्यपर्याय कह आए हैं उनको कोई आचार्य व्यंजनपर्याय भी कहते हैं।

अब यहां कोई शंका करता है कि, यह अंशाअंशी कल्पना पिष्टपेषणवत् व्यर्थ है, उसका समाधान इसप्रकार है कि, यह कल्पना व्यर्थ नहीं है किन्तु फलवती है क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तु अवस्थित है किन्तु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अनवस्थित है, जैसे परिणामी आत्मा यद्यपि ज्ञानगुणकी अपेक्षासे अवस्थित है तथापि उस ज्ञानगुणके हीनाधिकरूप अंशोंसे अनवस्थित है। अथवा जैसे परिणामी श्वेतवस्त्र यद्यपि श्वेतताकी अपेक्षासे अवस्थित है तथापि उस श्वेतताके हीनाधिक अंशोंकी अपेक्षासे अनवस्थित है, इसप्रकार द्रव्यके दूसरे सत्-लक्षणका कथन समाप्त हुआ। अब आगे द्रव्यके गुणपर्ययवत् इस तीसरे लक्षणका कथन करते हैं—

द्रव्यके जो तीन लक्षण कहे सो इन तीनोंका एक ही अभिप्राय है किन्तु वाक्यशैली भिन्नर है "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस तीसरे लक्षणका यह अभिप्राय है कि, गुण और पर्यायके समुदायको द्रव्य कहते हैं अथवा कोईर आचार्योंने गुणके समुदायको ही द्रव्य कहा है, इस सबका तात्पर्य यह है कि, देश, देशांश, गुण, और गुणांश इन चारोंको एक आलापसे द्रव्य कहते हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि देश, देशांश, गुण, और गुणांश ये चार पदार्थ भिन्नर हैं इन चारोंके मिलनेसे, समूहको द्रव्य कहते हैं, किन्तु अनंत शक्तियोंके अभिन्नभावको

देश कहते हैं, देशांश और गुणांश इन ही देश और गुणोंकी अवस्था विशेष हैं। अनंत शक्तियोंमेंसे प्रत्येक शक्ति, देशके समस्त भागमें व्यापक है।

इसलिये इसका खुलासा भावार्थ यह है कि अभिन्न भावको लिये अनंत शक्तियोंकी त्रिकालवर्ती अवस्थाओंके समूहको द्रव्य कहते हैं इससे "गुणसमुदायो द्रव्यं" ऐसा जो पूर्वाचार्योंने लक्षण किया है वह सिद्ध होता है। इसप्रकार गुण और गुणीमें अभिन्नभाव है इसका निर्देश "द्रव्येगुणाः सन्ति" अर्थात् द्रव्यमें गुण हैं इसप्रकार आधेयआधार सम्बन्धरूप भी होता है तथा "गुणवद्द्रव्यं" अर्थात् द्रव्य गुणवाला है इसप्रकार स्वस्वामि सम्बन्धरूप भी होता है।

लौकिकमें आधेयआधार और स्वस्वामि सम्बन्ध भिन्न पदार्थोंमें भी होते हैं और अभिन्न पदार्थोंमें भी होते हैं। जैसे दीवारमें चित्र, तथा घडेमें दही, यहां भिन्न पदार्थोंका आधेय-आधार सम्बन्ध है। तथा धनवान् पुरुष यहां भिन्न पदार्थोंमें स्वस्वामि सम्बन्ध है, इस ही प्रकार वृक्षमें शाखा आदि हैं। यहां अभिन्न पदार्थोंमें आधेयआधार सम्बन्ध है तथा वृक्षशाखावान् है यहां अभिन्न पदार्थोंमें स्वस्वामि सम्बन्ध है, सो द्रव्य और गुणके विषयमें अभिन्न आधेयआधार तथा अभिन्न ही स्वस्वामि सम्बन्ध समझना।

शंका—जब गुणोंका समुदाय है सो ही द्रव्य है। गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है, तो यह द्रव्यकी जो कल्पना है सो व्यर्थ ही है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि, यद्यपि पट, तन्तुओंका ही समूह है, तन्तुओंसे भिन्न पट कोई पदार्थ नहीं है परन्तु जो शीतनिवारणादि अर्थक्रिया (प्रयोजन भूतकार्य)

पटसे हो सकती है सो तन्तुओंसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिये समुदायसमुदायी कथंचित् भिन्न हैं कथंचित् अभिन्न हैं।

अब 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' और 'सद्द्रव्यलक्षणं' इन दोनों लक्षणोंमें एकता दिखाते हैं—सत् एक गुण है, उस सत्के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन अंश हैं। जिस प्रकार वस्तु स्वतः सिद्ध है उस ही प्रकार स्वतः परिणामी भी है। भेद विकल्प निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे जो सत् है सो ही द्रव्य है; इस कारण द्रव्य ही उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप हैं और उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप द्रव्य, परिणामके विना हो नहीं सकता, यदि विना परिणामके भी उत्पादव्यय मानोगे तो असत्के उत्पाद और सतके विनाशका प्रसंग आवेगा।

इस कारण द्रव्य किसी भावसे उत्पन्न होता है, किसी भावसे विनाशको प्राप्त होता है, ये उत्पादव्यय वस्तुपनेसे नहीं होते, जैसे मृत्तिका घटस्वरूपसे उत्पन्न होती है। पिण्डस्वरूपसे विनाशको प्राप्त होती है, मृत्तिकास्वरूपसे उत्पादव्यय नहीं हैं। यदि द्रव्यमें उत्पादव्ययरूप परिणाम नहीं मानोगे तो परलोक तथा कार्यकारणभावके अभावका प्रसंग आवेगा और यदि परिणामोंको नहीं मानोगे तो वस्तु परिणाम मात्र क्षणिक ठहरेगी, तो प्रत्यभिज्ञान (यह वही है जो पहले था) के अभावका प्रसंग आवेगा, इससे सिद्ध हुआ कि, द्रव्य कथंचित् नित्यानित्यात्मक है, नित्यताकी और गुणकी परस्पर व्याप्ति है, इसलिये 'द्रव्यगुणवान् है' ऐसा कहनेसे 'द्रव्य ध्रौव्यवान् है' ऐसा सिद्ध होता है।

इस ही प्रकार अनित्यतायुक्तपर्यायोंकी उत्पादव्ययके साथ व्याप्ति है इसलिए 'द्रव्यपर्यायवान है' ऐसा कहनेसे 'द्रव्य उत्पादव्यययुक्त है' ऐसा सिद्ध होता है। उत्पाद, व्यय और

ध्रौव्य इन तीनोंको एक आलापसे सत् कहते हैं। इसलिए 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' कहनेसे 'सद्द्रव्यलक्षणं' ऐसा सिद्ध हुआ।

शंका—यदि ऐसा है तो ती लक्षण कहनेका क्या प्रयोजन? तीनोंमेंसे कोई एक लक्षण कहना वस था।

समाधान—यद्यपि तीनों लक्षणोंमें परस्पर विरोध नहीं है और एक दूसरेके अभिव्यंजक हैं, तथापि ये तीनों लक्षण द्रव्यकी भिन्न तीन शक्तियोंकी अपेक्षा कहे हैं अर्थात् पहले द्रव्यके छह सामान्य गुण कह आए हैं, उनमें एक द्रव्यत्व, दूसरा सत्व और तीसरा अगुरुलघुत्व है (इन तीनोंके लक्षण भूमिकासे जानने) सो पहला लक्षण द्रव्यत्व गुणकी मुख्यतासे, दूसरा लक्षण सत्व-गुणकी मुख्यतासे और तीसरा लक्षण अगुरुलघुत्व गुणकी मुख्य-तासे कहा है। अब आगे गुणका स्वरूप वर्णन करते हैं—

गुणका लक्षण पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है कि द्रव्यके आश्रय विशेष मात्र निर्विशेषको गुण कहते हैं।

भावार्थ—एक गुण जितने क्षेत्रको व्यापकर रहता है उतने ही क्षेत्रमें समस्त गुण रहते हैं अर्थात् अनन्त गुण एक ही देशमें भिन्न २ लक्षणयुक्त अभिन्न भावसे रहते हैं। इन गुणोंके अभिन्न भावको ही द्रव्य कहते हैं। वही द्रव्य इन गुणोंका आश्रय है।

जैसे अनेक तन्तुओंके समूहको ही पट कहते हैं। इस पटके ही आश्रय अनेक तंतु हैं परन्तु प्रत्येक तन्तुका जैसे देश भिन्न२ है, उस प्रकार प्रत्येक गुणका देश भिन्न२ नहीं हैं किंतु सबका देश एक ही है। जैसे किसी वैद्यने एक एक तोले प्रमाण एक लक्ष औषधि लेकर एक चूर्ण बनाया और उसको कूट छान नींबूके रसमें घोंटकर एक एक रत्तीप्रमाण गोलियां बनाई। अब उस एक गोलीमें एक लक्ष औषधियां हैं और उन सबका देश

एक ही है इस ही प्रकार समस्त गुणोंका एकदेश जानना। परन्तु दृष्टांतका दार्ष्टान्तिसे एकदेश ही मिलता है।

जिस धर्मकी अपेक्षासे दृष्टांत दिया है उस ही अपेक्षासे समानता समझना, अन्य धर्मोंकी अपेक्षा समानता नहीं समझना। गुणके नित्यानित्य विचारोंमें अनेक वादी प्रतिवादी नाना कल्पना द्वारा परस्पर विवाद करते हैं, परन्तु जैन सिद्धान्तके अनुसार द्रव्यकी तरह गुण भी कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य हैं। जैसे पहले समयमें परिणामी ज्ञान घटाकार था और पिछले समयमें वही ज्ञान पटाकार हुआ परंतु ज्ञानपनेका नाश नहीं हुआ। घटाकार परिणतिमें भी ज्ञान था और पटाकार परिणतिमें भी ज्ञान है इसलिये ज्ञानगुण कथंचित् ज्ञानपनेकर नित्य है। अथवा जैसे आमके फलमें वर्णगुण पहले हरा था पीछे पीला हुआ, परंतु वर्णपनेका नाश नहीं हुआ है इसलिये वर्णगुण कथंचित वर्णपनेकी अपेक्षासे नित्य है। जिस प्रकार वस्तु परिणामी है उस ही प्रकार गुण भी परिणामी है इसलिये जैसे वस्तुमें उत्पाद व्यय हैं उसी प्रकार गुणमें भी उत्पादव्यय होते हैं।

जैसे ज्ञान यद्यपि ज्ञानसामान्यकी अपेक्षासे नित्य है, किंतु प्रथम समयमें घटको जानते हुए घटाकार था और दूसरे समय घटको जानते हुए पटाकार होता है इसलिये ज्ञानमें पटाकारकी अपेक्षा उत्पाद हुआ और घटाकारकी अपेक्षा व्यय हुआ। अथवा जैसे आमके फलमें वर्णकी अपेक्षा यद्यपि नित्यता है परंतु हरितता और पीतताकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय होते हैं। अव यहां शंकाकार कहता है कि, गुण तो नित्य हैं और पर्याय अनित्य हैं फिर द्रव्यकी तरह गुणोंको नित्यानित्यात्मक कैसे कहा?

समाधान—इसका अभिप्राय ऐसा है कि, जब गुणोंसे भिन्न द्रव्य अथवा पर्याय कोई पदार्थ नहीं हैं, किंतु गुणोंके समूहको ही द्रव्य कहते हैं, तो जैसे द्रव्य नित्यनित्यामक है उसी प्रकार गुण भी नित्यनित्यात्मक स्वयंसिद्ध हैं, वे गुण यद्यपि नित्य हैं तथापि बिना यत्नके प्रतिसमय परिणसते हैं और वह परिणाम उन गुणोंकी ही अवस्था है, उन परिणामों (पर्यायों) की गुणोंसे भिन्न सत्ता नहीं है।

शंका—पूर्व और उत्तर समयमें गुण जैसेका तैसा है और परिणाम पहले समयमें एकरूप है और दूसरे समयमें दूसरेरूप है इससे सिद्ध होता है कि, उन दोनों अवस्थाओंमें रहनेवाला गुण, उन परिणामोंसे भिन्न है।

समाधान—सो नहीं है किन्तु ऐसा है कि, गुण पूर्व समयमें जिस परिणामरूप है वह परिणाम उस गुणसे भिन्न कोई चीज नहीं है किन्तु उस गुणकी ही अवस्था-विशेष है, वही गुण दूसरे समयमें दूसरे परिणामरूप है, वह दूसरा परिणाम भी उस गुणसे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है किंतु उस ही गुणकी एक अवस्थाविशेष है।

जो गुण परिणामीपनेसे उत्पादव्ययस्वरूप है वे ही गुण टंकोत्कीर्ण न्यायसे अपने स्वरूपसे नित्य हैं। तथा ऐसा भी नहीं है कि, एक गुणका नाश हो जाता है और दूसरे गुणका उत्पाद होता है और द्रव्य उनका आधारभूत है, किंतु एक ही गुण प्रति समय अनेक अवस्थारूप होता है।

शंका—केवल देश है सो तो द्रव्य है और उस देशके आश्रय जो विशेष हैं वे गुण हैं इसलिये द्रव्य और गुण भिन्न२ हैं और इस ही कारण द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य अच्छी तरह

घटित होते हैं अर्थात् द्रव्यरूप देश नित्य है उसकी अपेक्षासे ही ध्रौव्य है और गुणरूप विशेष अनित्य हैं उनकी अपेक्षासे ही उत्पाद और व्यय हैं।

समाधान—सो ठीक नहीं है क्योंकि, इस लक्षणसे गुण क्षणिक ठहरते हैं और क्षणिक पदार्थमें अभिज्ञान (यह वही है जो पहले था) नहीं होसकता और गुणोंमें अभिज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये पूर्वोक्त लक्षण वाधित है। सिवाय इसके पूर्वोक्त लक्षणसे एक समयमें एक द्रव्यमें अनेक गुण नहीं होसकते सोभी प्रत्यक्षवाधित है क्योंकि, एक आमके फलमें स्पर्श रस गन्धादि अनेक गुण प्रत्यक्ष सिद्ध हैं।

शंका—अच्छा, तो हम गुणको नित्य और परिणामी मानेंगे।

समाधान—तो वस इसका वही अर्थ होता है जो हम पहले कह आये हैं; अर्थात् गुण उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक हैं, और जो कि, तुमने पहले कहा कि, केवल प्रदेश हैं, सो द्रव्य हैं, सो भी ठीक नहीं है किन्तु प्रदेशत्व नामक एक शक्ति-विशेष है। सो वह शक्ति भी कोई गुण है इसलिये पूर्वाचार्योंने "गुणोंका समुदाय है सो ही द्रव्य है" ऐसा जो लक्षण किया है उसका यही अभिप्राय है कि, यदि देशको अनेक विभागोंमें वांटा जाय तो गुणोंके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता।

शंका—यदि ऐसा है तो जितनी पर्याय हैं उन सबको गुणपर्याय ही कहना चाहिये; द्रव्यपर्याय कोई भी नहीं ठहरेगी।

समाधान—सो नहीं है, इसमें कुछ विशेष है, जिसका खुलासा इस प्रकार है कि, यद्यपि समस्त गुण गुणत्व सामान्यकरि सहित हैं तथापि जिस प्रकार उन गुणोंके चेतन और अचेतन ये दो भेद हैं, उस ही प्रकार उन अनंत शक्तियों (गुणों) में दूसरे दो भेद हैं अर्थात् १ क्रियावतीशक्ति, २ भाववतीशक्ति।

प्रदेश अथवा देशपरिस्पंद (चंचलता) को क्रिया कहते हैं और शक्तिविशेषको भाव कहते हैं।

भावार्थ—अनंत गुणोंमें प्रदेशक्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते हैं और बाकीके गुणोंको भाववती शक्ति कहते हैं। इस प्रदेशत्व गुणके परिणमन (पर्याय) को द्रव्यपर्याय कहते हैं, इसहीका दूसरा नाम व्यंजनपर्याय है।

शेष गुणोंके परिणमन (पर्याय) को गुणपर्याय कहते हैं, इसहीका दूसरा नाम अर्थपर्याय है।

पर्यायका लक्षण पहले अंशकल्पना कह आये हैं सो द्रव्य-पर्यायमें देशकी विष्कम्भक्रमसे अंशकल्पना है और गुणपर्यायमें गुणकी तरतमरूपसे अंशकल्पना है इसका खुलासा इस प्रकार है कि, संपूर्ण गुणोंका जो अभिन्नभावसे एक पिंड है, उसको द्रव्य कहते हैं, उस द्रव्यको अनेक विभागोंमें विभाजित करनेको अंशकल्पना कहते हैं। इसहीका नाम पर्याय है। प्रदेशक्त्व गुणके निमित्तसे द्रव्यके आकारमें विकार होता है। इस आकारमें दो प्रकारकी अंशकल्पना हैं; एक तिर्यगंश कल्पना दूसरी ऊर्द्धांश कल्पना। एक समयवर्ती आकारको अविभागी अनेक अंशोंमें विभाजित करनेको तिर्यगंश कल्पना कहते हैं। इन प्रत्येक अविभागी अंशोंको द्रव्यपर्याय कहते हैं।

द्रव्यका एक समयमें एक आकार है, द्वितीय समयमें द्वितीय आकार है। इस प्रकार कालके क्रमसे द्रव्यके आकारके अनंत भेद हैं। इसहीको ऊर्द्धांश कल्पना कहते हैं; और इन अनन्त समयवर्ती अनन्त आकारोंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक आकारको व्यंजनपर्याय कहते हैं। भाववती शक्ति (प्रदेशक्त्व गुणके सिवाय अन्य गुण) की भी इस ही प्रकार एक समयमें

एक अवस्था है, द्वितीय समयमें द्वितीय अवस्था है और तृतीय समयमें तृतीय अवस्था है।

इस ही प्रकार कालक्रमसे एक गुणकी अनंत समयोंमें अनंत अवस्था हैं, इसहीको गुणमें अद्धांश कल्पना कहते हैं। इन अनंत समयवर्ती अनंत अवस्थाओंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक अवस्थाको अर्थपर्याय कहते हैं। एक गुणकी एक समयमें जो अवस्था है उस अवस्थामें अविभाग प्रतिच्छेदरूप अंशकल्पनाको गुणमें तिर्यगंश कल्पना कहते हैं और उन प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेदोंको गुणपर्याय कहते हैं। इस प्रकार गुणोंमें उत्पादव्यय ध्रौव्य भलेप्रकार सिद्ध होते हैं।

अब किसी आचार्यने गुणोंका लक्षण "सहभावी" तथा किसीने "अन्वयी" किया है, उसका खुलासा इस प्रकार है कि, जो साथ रहनेवाले होय उनको गुण कहते हैं। परंतु साथका अर्थ ऐसा नहीं है, कि द्रव्यके साथ रहनेवाले गुण कहलाते हैं। ऐसा अर्थ माननेसे द्रव्य गुणोंसे पृथक् ठहरेगा इसलिये इसका अर्थ ऐसा करना, कि अनेक गुण साथ रहते हैं, कभी भी उनका परस्पर वियोग नहीं होता; किन्तु पर्याय क्रमभावी हैं इसलिये उनका सदा साथ नहीं रहता।

जो पर्याय पूर्व समयमें हैं वे उत्तर समयमें नहीं हैं। किन्तु गुण जितने पूर्व समयमें साथ थे वे सब ही उत्तर समयमें हैं। इसलिये गुणोंका साथ कभी नहीं छूटता, यह बात पर्यायोंमें नहीं है। इसलिये गुण सहभावी हैं और पर्याय क्रमभावी हैं। जो अनर्गल प्रवाहरूप वर्ते उसको अन्वय कहते हैं। सत्ता, सत्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये सब शब्द एकार्थवाचक हैं। वह अन्वय जिनका होय उनको अन्वयी अथवा गुण कहते हैं।

भावार्थ—एक गुणका उस ही गुणकी अनंत अवस्थाओंमें अन्वय (सन्तति अथवा अनुवृत्ति) पाया जाता है। इस कारण गुणको अन्वयी कहते हैं। यद्यपि एक द्रव्यमें अनेक गुण हैं। इसलिये नाना गुणकी अपेक्षा गुण व्यतिरेकी भी हैं। परंतु एक गुण अपनी अनंत अवस्थाओंकी अपेक्षासे अन्वयी ही है। यह वही है, इस ज्ञानके हेतुको अन्वय कहते हैं; और यह वह नहीं है, इस ज्ञानके हेतुको व्यतिरेक कहते हैं।

वह व्यतिरेक देश, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे चार प्रकारका है। अनंत गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं। जो एक देश है सो दूसरा नहीं है; तथा जो दूसरा देश है सो दूसरा ही है, पहला नहीं है, इसको देश व्यतिरेक कहते हैं। जितने क्षेत्रको व्यापकर एक देश रहता है वह क्षेत्र वही है, दूसरा नहीं है; और दूसरा है सो दूसरा ही है वह नहीं है। इसको क्षेत्रव्यतिरेक कहते हैं।

एक समयमें जो अवस्था होती है सो वह अवस्था वही है दूसरी नहीं है और द्वितीय समयवर्ती अवस्था दूसरी ही है वह नहीं है; इसको कालव्यतिरेक कहते हैं। जो एक गुणांश है वह वही है दूसरा नहीं है और जो दूसरा है सो दूसरा ही है वह नहीं है; इसको भावव्यतिरेक कहते हैं। यह इस प्रकारका व्यतिरेक पर्यायोंमें ही होता है।

गुण यद्यपि अनेक हैं तथापि इस प्रकारके व्यतिरेक गुणोंमें नहीं है। किसीने जीवको "ज्ञान है सो जीव है" इस प्रकार ज्ञान गुणकी मुख्यतासे ग्रहण किया; और दूसरेने "दर्शन है सो जीव है" इस प्रकार दर्शन गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया; किंतु दोनोंने उस ही जीवको उतना ही ग्रहण किया।

इसलिये जैसे अनेक पर्याय "सो यह नहीं है" इस लक्षणके

सद्भावसे व्यतिरेकी है उस प्रकार गुण अनेक होनेपर भी "सो यह नहीं है"।

इस लक्षणके अभावसे व्यतिरेकी नहीं है। उन गुणोंके दो भेद हैं—सामान्य और विशेष; जो गुण दूसरे द्रव्योंमें पाये जाते हैं उनको सामान्य गुण कहते हैं, जैसे सत् इत्यादि और जो गुण दूसरे द्रव्योंमें नहीं पाये जाते उनको विशेष गुण कहते हैं, जैसे ज्ञानादिक। इस प्रकार गुणका कथन समाप्त हुआ। अ आगे पर्यायका कथन करते हैं—

पर्याय व्यतिरेकी, क्रमवर्ती, अनित्य, उत्पादव्यय स्वरूप तथा कथंचित् ध्रौव्यस्वरूप होती है; सो व्यतिरेकीपनेका लक्षण तो गुणके कथनमें कर आये, अब शेषमेंसे पहलेका ही क्रमवर्तित्वका लक्षण कहते हैं—

पहले एक पर्याय हुई, उस पर्यायका नाश होकर दूसरी हुई, दूसरीका नाश होकर तीसरी हुई, इस ही प्रकार जो क्रमसे होय उसको क्रमवर्ती कहते हैं।

शंका—तो फिर व्यतिरेक और क्रममें क्या भेद है?

समाधान—जैसे स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारकी पर्याय हैं और स्थूल पर्यायमें सूक्ष्म पर्याय अन्तर्लीन हैं (गर्भित हैं); इन दोनोंमें यद्यपि पर्यायपनेकर समानता है तथापि स्थूल सूक्ष्म अपेक्षा भेद है।

भावार्थ—द्रव्यका आकार प्रतिसमय परिणमन रूप होता है। प्रथम समयवर्ती आकारकी अपेक्षासे द्वितीयादि समयवर्ती आकारोंमें कुछ अंश सदृश होता है और कुछ असदृश। वो असदृश सूक्ष्मभेद इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता; और सदृशस्थूल परिणाम इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है। वह अनेक समयोंमें

एकसा है इसलिये स्थूलपर्याय चिरस्थायी कहा है और इस ही अपेक्षासे पर्यायको कथंचित् ध्रौव्यस्वरूप कहा है।

जिस प्रकार सूक्ष्मस्थूल पर्यायमें लक्षणभेदसे भेद हैं उस ही प्रकार व्यतिरेक और क्रममें भी लक्षणभेदसे भेद है। स्थूलपर्यायमें अनेक समयोंमें सदृशांश (सदृश हैं अंश जिसके) सत् (द्रव्य) का जो प्रवाहरूपसे अंशविभाग पृथक् है उसको व्यतिरेक कहते हैं।

भावार्थ—स्थूलपर्यायमें जो आकार प्रथम समयमें है उस हीके सदृश आकार दूसरे समयमें है। इन दोनों आकारोंमें पहला है सो दूसरा नहीं है और दूसरा है सो पहला नहीं है। इसको ही व्यतिरेकीपन कहते हैं; और एकके पीछे दूसरा होना, इसको क्रम कहते हैं। यह वह है अथवा अन्य है इसकी यहां विवक्षा नहीं है। "एकके पीछे दूसरा होना" इस लक्षरूप क्रम "यह वह नहीं है" इस लक्षणरूप व्यतिरेकका कारण है। इसलिये क्रम और व्यतिरेकमें कार्यकारण भेद है।

शंका—पहले कह आये हो कि, "जो पहले था सो ही यह है अथवा जैसा पहले था वैसा ही है" और अब क्रम और व्यतिरेकमें इससे विपरीत कहा इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान—इसका अभिप्राय ऐसा है कि, जिसप्रकार द्रव्य स्वतः सिद्ध नित्य है उस ही प्रकार परिणामी भी है। इसलिये प्रदीप शिखोंकी तरह प्रतिसमय पुनः२ परिणमै है।

शंका—जो यह परिणाम पूर्वपूर्व भावके विनाशसे अथवा उत्तर२ भावके उत्पादसे होता है?

समाधान—सो नहीं है। न तो किसीका उत्पाद होता और न किसीका नाश होता। जो पदार्थ असत् है अर्थात् है ही नहीं

वह आवेगा कहांसे और जो है वह जायगा कहाँ? इस कारण यह निश्चित सिद्धांत है कि, असत्‌का उत्पाद और सत्‌का विनाश कदापि नहीं होता। द्रव्यको जो नित्यानित्यात्मक कहा है उसका खुलासा इसप्रकार है कि, जब "सत्‌का विनाश कभी नहीं होता" ऐसा सिद्धांत निश्चित है तो समस्त द्रव्य नित्य हैं ही। इससे नित्य पक्ष तो स्वयंसिद्ध है। जब द्रव्यको जो कथंचित् अनित्य कहा है उसका अभिप्राय यह है कि, द्रव्यमें अनित्यताका कथन दो प्रकारसे है—एक तो व्यंजनपर्यायकी अपेक्षासे और दूसरा अर्थपर्यायकी अपेक्षासे।

द्रव्यकी व्यक्तिके विकारको व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे एक जीव पहले मनुष्य व्यक्तिरूप था वही जीव पीछे हस्ती व्यक्तिरूप हो गया। इस हीका नाम व्यंजनपर्याय है। इस अवस्थामें ऐसा कहनेका व्यवहार है कि, मनुष्यका नाश हुआ और हाथी उत्पन्न हुआ; परंतु जो परमार्थसे विचारा जाय तो न तो किसीका नाश हुआ है और न किसीकी उत्पत्ति हुई है। किंतु जैसे एक सोनेका पांसा है; उसको एक सुनारने टोककर किंचित् लंबा करके और मोड़कर उसका एक कड़ा बना दिया।

अब यहां जो परमार्थसे देखा जाय तो न तो किसीका नाश हुआ है और न किसीकी उत्पत्ति हुई है। किंतु जो सोना पहले पांसेके आकार था वही अब कड़ेके आकार हो गया अर्थात् पहले उस सोनेने आकाशके जो प्रदेश रोके थे वे प्रदेश अब नहीं रोके हैं, किंतु दूसरे ही प्रदेश रोके हैं।

भावार्थ—सुवर्ण द्रव्यका देशसे देशांतर मात्र हुआ है; न किसीका नाश हुआ है और न किसीकी उत्पत्ति हुई है, केवल आकारका भेद हुआ है; और आकारभेदमें देशसे देशांतर ही है। उत्पत्ति विनाश कुछ भी नहीं है। इस ही प्रकार जीव भी मनुष्यके आकारसे

हाथीका आकार हुआ है, न तो मनुष्यका नाश हुआ है और न हाथीकी उत्पत्ति हुई है। केवल मात्र इस आकारके भेदसे ही इतना अवश्य होता है कि, जो पदार्थ जैसा पहले था वैसा अब नहीं रहा। क्योंकि उसमें आकारका भेद हो गया। किंचित् भेद होनेपर भी विसदृशता होती ही है। बस यही व्यंजन-पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्यमें अनित्यताकथनका सारांश है।

शंका—जो केवल आकार भेद ही है तो एक पदार्थके अनेक आकारोंका क्षेत्रफल समान ही होना चाहिये। जैसे कि, एक सोनेका पासा है उसके चाहे जितने आकार कर लो परन्तु क्षेत्रफल समान ही होगा। सो जब एक जीव मनुष्याकारसे हाथीके आकार होता है तो उसके क्षेत्रफलमें अन्तर क्यों है?

समाधान—जैसे पांच मन रुईको एक कपड़ेमें बांधो और उस ही पांच मन रुईको जब प्रेसमें दबाकर गांठ निकालो तो उसके क्षेत्रफलोंमें अन्तर आता है अथवा जैसे दीपकके प्रकाशका आकार छोटे मकानमें छोटा और वडेमें वड़ा होता है, उस ही प्रकार जीवका आकार भी छोटे शरीरमें छोटा और वडे शरीरमें वड़ा होता है। द्रव्य न्यूनाधिक नहीं होता किन्तु संकोच विस्तारसे ऐसा होता है।

अर्थपर्यायकी अपेक्षासे जो द्रव्यमें अनित्यताका कथन है उसका अभिप्राय यह है कि, गुणके विकारको अर्थपर्याय कहते हैं। वह गुणका विकार ऐसा है; जैसे कि ज्ञानगुण एक समयमें कुछ अविभागप्रतिच्छेद संयुक्त है; वही ज्ञान द्वितीयादिक समयमें हीनाधिक अविभागप्रतिच्छेदस्वरूप होता है। तथा ज्ञानगुण पूर्वसमयमें जितने अविभागप्रतिच्छेदस्वरूप है उत्तर समयमें भी उतने ही अविभागप्रतिच्छेस्वरूप रहता है। किन्तु

पूर्व समयमें वह ज्ञान घटको जानता था इस कारण घटाकार था।

उत्तर समयमें वही ज्ञान उतने ही अविभागप्रतिच्छेदस्वरूप रहते भी लोकको जानता है इसलिये लोकाकार हो जाता है।

जिस समय वह ज्ञान घटाकार था तो उस समय ज्ञानके शेष अंशोंका नाश नहीं हो गया था तथा जब लोकाकार हुआ तो असत् अंशोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। इसलिये इस न्यूनाधिक आकारमें अंशोंकी न्यूनाधिकता नहीं होती है, किंतु जितना वह ज्ञान है उतना ही ज्ञान तदाकारमय (स्वरूप) हो जाता है। इसलिये अर्थपर्यायमें भी केवल आकारकी विशेषता है।

शंका—यद्यपि विषयाकार परिणमनमें केवल आकार विशेषता है किंतु अविभागप्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतामें तो कभी कुछ अंशोंकी उत्पत्ति हो जाती है और इस प्रकार अंशोंके घटने बढ़नेसे गुणोंमें कृशता और स्थूलता आवेगी। तथा हानि होतेर कदाचित् समस्त अविभागप्रतिच्छेदोंका नाश हो जायगा।

समाधान—द्रव्यमें एक अगुरुलघुगुण है जिसके निमित्तसे किसी भी शक्तिका कभी भी अभाव नहीं होता। यद्यपि अविभागप्रतिच्छेदकी हानि वृद्धि होती है तथापि प्रत्येक शक्ति जो द्रव्यके समस्त देशमें व्यापक है वह इस प्रमाणसे कदापि हीनाधिक प्रमाणरूप नही होती, अथवा गुणकी जघन्य तथा उत्कृष्ट अवस्थाका जो प्रमाण है उस प्रमाणसे हीनाधिकता नहीं होती। इस प्रकार पर्यायका कथन समाप्त हुआ।

अब आगे जैनसिद्धांतके जीवभूत अनेकांतका कथन करते हैं। अनेकांतका विग्रह पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है—अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् भावे सोऽयमनेकांतः, अर्थात् जिस

पदार्थमें अनेक धर्म होय उसको अनेकांत कहते हैं। सो संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सर्व अनेकांतात्मक हैं।

जैसे एक पुरुषमें पितापना, पुत्रपना, मामापना, भानजापना, काकापना, भतीजापना, इत्यादि अनेक धर्म पाये जाते हैं। यद्यपि ये धर्म परस्पर विरुद्धसे दीखते हैं, परंतु वास्तवमें विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि ये धर्म अपेक्षारहित नहीं हैं किंतु अपेक्षारहित हैं; और वे अपेक्षा भी भिन्नर हैं।

जिस अपेक्षासे पितापना है उस ही अपेक्षासे यदि पुत्रपना होता तो वेशक विरोध होता। किंतु पितापना पुत्रकी अपेक्षासे है, पुत्रपना पिताकी अपेक्षासे है, मामापना भानजेकी अपेक्षासे है, भानजापना मामाकी अपेक्षासे है, काकापना भतीजेकी अपेक्षासे है और भतीजापना काकाकी अपेक्षासे है। इसमें कुछ भी विरोध नहीं है; किंतु वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। इस ही प्रकार संसारभरमें जीवादिक जितने पदार्थ हैं वे सब अनेकांतात्मक (अनेकांतस्वरूप) हैं।

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है परंतु शब्दमें इतनी शक्ति नहीं है कि, एक शब्द एक समयमें वस्तुके अनेक धर्मोंका प्रतिपादन (कथन) कर सके। किंतु एक शब्द एक समयमें वस्तुके एक ही धर्मका प्रतिपादन करता है। शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताकी इच्छाके आधीन है। इसलिये वक्ता वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वचनका प्रयोग करता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि, वस्तु सर्वथा इस एक धर्मस्वरूप ही है। किंतु ऐसा अर्थ है कि, विवक्षित धर्मकी तो मुख्यता है और शेष धर्मोंकी गौणता है; और इन गौणधर्मोंका ही द्योतक स्यात् (कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षासे) शब्द समस्त वाक्यके साथ गुप्तरूपसे रहता है।

यदि इस सीधी दृष्टिसे वस्तुस्वरूपका विचार किया जाय तो संसारमें जो अनेक मतोंमें परस्पर विरोध दीखता है वह सहजहीमें मिट जाय। परन्तु हमारे भोले भाइयोंने वस्तुके एक२ धर्मको सर्वथारूपसे वस्तुका स्वरूप मान रक्खा है इस कारण सर्वत्र विरोध ही विरोध दीखता है।

यदि इन धर्मोंको कथंचित् रूपसे मानें तो कुछ भी विरोध नहीं रहै; जैसे कि, छह जन्मांध पुरुषोंने हस्तीके भिन्न २ अंगोंको देखकर हस्तीका भिन्न २ स्वरूपसे निश्चय किया और अपने २ पक्ष सिद्ध करनेके लिये विवाद करने लगे। अर्थात् एक अंधेने हस्तीकी सूंढ छुई थी इस कारण वह हस्तीका स्वरूप मूसलाकार निरूपण करता था, दूसरेने हस्तीका कान पकड़ा था इस कारण वह हस्तीका स्वरूप सूपके आकार निरूपण करता था, तीसरेने हस्तीकी पूंछ पकड़ी थी इस कारण वह हस्तीका स्वरूप दण्डाकार निरूपण करता था, चौथेने हस्तीकी टांग पकड़ी थी इस कारण वह हस्तीका स्वरूप स्तम्भाकार निरूपण करता था, पांचवेंने पेट छुआ था इस कारण वह हस्तीका स्वरूप भिटौरेके आकार कहता था और छठेने दांत पकड़ा था इस कारण वह हस्तीका स्वरूप सोटेके आकार निरूपण करता था।

इस प्रकार वे छहों जन्मान्ध, हस्तीके भिन्न२ अंगोंका स्पर्शकर भिन्न २ अंगस्वरूप हस्तीका निरूपण करके आपसमें झगड़ते थे, दैवयोगसे इतनेहीमें एक सूझता (आंखसहित) मनुष्य आगया और उनको इस प्रकार झगड़ते हुए देखकर कहने लगा—भाइयो! "तुम व्यर्थ क्यों झगड़ा कर रहे हो, तुम सब सच्चे हो। तुमने हस्तीका एक एक अंग देखा है।"

इनही सब अगोंका जो समुदाय है वही वास्तविक हस्ती है। ठीक ऐसी ही अवस्था संसारके मतोंकी है। अनेकांतात्मक वस्तुके

एक एक अंगको ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप मानकर अनेक वादी प्रतिवादी परस्पर विवाद कर रहे हैं। यदि ये महाशय एकांत आग्रहको छोड़कर अनेकांतात्मक वस्तुका स्वरूप मानलें तो परस्पर कुछ भी विवाद नहीं रहै। अब उस ही अनेकान्तका संक्षेप स्वरूप जीवतत्वपर घटित करके कहते हैं—

एक जीव, यद्यपि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे एक है; तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे वही एक जीव अनेकात्मक (अनेक स्वरूप) है। इसकी अनेकात्मकतामें पूर्वाचार्योंने अनेक हेतुओंका उपन्यास किया है, उनमेंसे कुछ थोडेसे यहां लिखे जाते हैं—

(१) अभाव विलक्षण होनेसे जीव अनेकान्तात्मक है अर्थात् वस्तु भाव (सत्) स्वरूप है और अवस्तु अभाव (असत्) स्वरूप है। अभाव स्वरूप अवस्तुके कुछ भी भेद नहीं हो सकते; क्योंकि कोई पदार्थ ही नहीं है तो भेद किसके किये जांय? जीवपदार्थ अभावस्वरूप अवस्तुसे विलक्षण भावस्वरूप है और भावस्वरूप वस्तुमें नानाप्रकार भेद हो सकते हैं। यदि अभाव-स्वरूप अवस्तुकी तरह भावस्वरूप वस्तुमें भी भेद नहीं होंगे तो दोनोंमें विशेषताके अभावका प्रसंग आवेगा।

(२) वह भावस्वरूप जीव छह भेदरूप है—अर्थात् १ उत्पत्तिस्वरूप, २ अस्ति (मौजूदगी) स्वरूप, ३ परिमाणस्वरूप, ४ वृद्धिस्वरूप, ५ उपक्षयस्वरूप और ६ विनाशस्वरूप। जिस समय जीव देवायुके नाश और मनुष्यायुके उदयसे देवपर्यायको छोड़कर मनुष्यरूपसे उत्पन्न होता है उस समय उत्पत्तिस्वरूप है। मनुष्यायुके निरन्तर उदयसे मनुष्य पर्यायमें यह जीव अवस्थान करता है इसलिये अस्तिस्वरूप है।

बाल्यावस्थासे युवावस्थारूप तथा युवावस्थासे वृद्धावस्थारूप

होता है; इसलिये परिणामस्वरूप है। मनुष्यपनेको न छोड़ता हुआ छोटेसे बड़ा होता है, इसलिये वृद्धिस्वरूप है। ढलती उमरमें क्रमसे जरावस्थाको धारण करता हुआ एकदेशहीनताको प्राप्त होता है; इसलिये अपक्षयस्वरूप है। मनुष्यपर्यायको छोड़कर पर्यायान्तरको प्राप्त होता है; इसलिये विनाशस्वरूप है। इस ही प्रकार प्रतिसमय वृत्तिके भेदसे अनंतस्वरूप होते हैं। इसलिये भावस्वरूपजीवके अनेकान्तात्मकपना है।

(३) अथवा यह जीव अस्तित्व, ज्ञेयत्व, द्रव्यत्व, अमूर्त्तत्व, चेतनत्व आदि अनेक धर्मसंयुक्त है; इस कारण अनेकान्तात्मक है।

(४) अथवा जीव अनेक शब्द और अनेक विज्ञानोंका विषय है; इसलिये अनेकान्तात्मक है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि, संसारमें एक पदार्थके वाचक अनेक शब्द दीखते हैं, अर्थात् एक पदार्थमें अनेक धर्म हैं, सो जिस समय वह पदार्थ किसी एक धर्मरूप परिणमै है उस समय यह पदार्थ उस एक शब्दका वाच्य होता है। इस ही प्रकार जब वह पदार्थ द्वितीयादि धर्मरूप परिणमै है, उस समय द्वितीयादि शब्दोंका वाच्य होता है।

इस प्रकार एक पदार्थ अनेक शब्दोंका विषय है। जैसे कि एक ही घट पदार्थ पार्थिव, मार्त्तिक, संज्ञेय, नव, महान इत्यादि अनेक शब्दोंका विषय है; इसी प्रकार एक ही घट पदार्थ अनेक विज्ञानोंका विषय समझना। इस घटकी ही तरह जीव भी देव, मनुष्य, पशु, कीट, बाल, युवा, वृद्ध इत्यादि अनेक शब्द और विज्ञानोंका विषय है; इसलिये अनेकान्तात्मक है।

(५) अथवा जैसे एक अग्निपदार्थमें दाहकत्व, पाचकत्व, प्रकाशकत्व आदि अनेक शक्ति हैं; उस ही प्रकार एक ही जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावके निमित्तसे अनेक विकाररूप

परिणमनको कारणभूत अनेक शक्तियोंके योगसे अनेकान्तात्मक है।

(६) अथवा जैसे एक घट अनेक सम्बन्धोंके योगसे पूर्व, पर, अन्तरित, निकट, दूर, नवीन, पुराण, समर्थ, असमर्थ, देवदत्तकृत, धनदत्तस्वामिक, संख्यावान्, परिणामवान्, संयुक्त, विभक्त, पृथक् आदि अनेक नामधारक होता है, उस ही प्रकार एक ही जीव अनेक सम्बन्धोंके योगसे पिता, पुत्र, स्वामी, सेवक मामा, भानजा, सुसर, जमाई, साला, बहनेऊ, देशी, विलायती आदि अनेक नामधारक होता है, इसलिए अनेकांतात्मक है।

(७) अथवा जैसे देवदत्तके इन्द्रदत्तकी अपेक्षासे अन्यपना है उस ही प्रकार जिनदत्तकी अपेक्षासे भी अन्यपना है। परन्तु जो अन्यपना इन्द्रदत्तकी अपेक्षासे है वही अन्यपना जिनदत्तकी अपेक्षासे नहीं है। यदि दोनोंकी अपेक्षासे एक ही अन्यपना मानोगे तो इन्द्रदत्त और जिनदत्तमें एकताका प्रसंग आवेगा। किंतु जिनदत्त और इन्द्रदत्त भिन्न२ हैं; इस कारण दोनोंकी अपेक्षासे अन्यपना भी भिन्न२ है।

इसही प्रकार संसारमें अनंत पदार्थ हैं। सो एक जीवके उन अनंत पदार्थोंकी अपेक्षासे अनंत अन्यत्व है। जो ऐसा नहीं मानोगे तो उन सब अनंत पदार्थोंके एकताका प्रसंग आवेगा। किंतु वे अनंत पदार्थ एक नहीं हैं; भिन्न २ हैं। इस कारण एक जीवमें अनंत पदार्थोंकी अपेक्षासे अनंत अन्यत्व हैं; इसलिये अनेकान्तात्मक है।

(८) अथवा जैसे एक घट अनेक रंगोंके सम्बन्धसे लाल, काली, पीली आदि अनेक अवस्थाओंको धारण करता हुआ अनेक रूप होता है; उस ही प्रकार एक जीव चारित्रमोहादिक कर्मके निमित्तसे, अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे तीव्र, मंदादि अनंत

अवस्थाओंको धारण करनेवाले क्रोधादिक अनेक भावरूप परिणमन होनेसे अनेकांतात्मक है।

(९) अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालके अनन्त समय हैं। एकजीव प्रत्येक समयमें भिन्न२ अवस्थारूप परिणमै है, इसलिए अनंत समयोंमें अनंत परिणाम रूप होनेसे अनेकांतात्मक है।

(१०) अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप होनेसे एक जीव अनेकांतात्मक है।

भावार्थ—यद्यपि एक पदार्थ एक ही समयमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वयंसिद्ध हैं; तो अनंत समयोंमें एकही पदार्थके अनंत उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वयंसिद्ध हैं; तथापि एकही पदार्थके एक समयमें एक ही उत्पाद अनेक स्वरूप है।

उसका खुलासा इस प्रकार है। जैसे एक घट एक समयमें पार्थिवपनेसे उत्पन्न होता है; जलपनेसे उत्पन्न नहीं होता है। निजाधारभूतक्षेत्रकपनेसे उत्पन्न होता है, अन्य क्षेत्रकपनेसे उत्पन्न नहीं होता है। वर्तमानकालपनेसे उत्पन्न होता है; न कि अतीतानागतकालपनेसे। बडेपनसे उत्पन्न होता है न कि छोटेपनेसे। जिस समय यह घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, कालभावसे उत्पन्न होता है उस ही समयमें इसके सजातीय अन्य पार्थिव घट, अथवा ईषद्विजातीय (किंचित् विजातीय) सुवर्णादि घट, तथा अत्यन्त विजातीय पट आदि अनंत मूर्त्तामूर्त्त द्रव्य, अपने२ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे उत्पन्न होते हैं।

प्रकृत घटका उत्पाद, इन अनंत पदार्थोंके अनंत उत्पादोंसे भेदरूप होनेसे स्वयं अनंत भेदरूप है। अन्यथा सब पदार्थोंमें अविशिष्टताका प्रसंग आवैगा। तथा तीन लोकमें अनंत पदार्थ

हैं; वे अनंत पदार्थ वर्तमान समयको छोड़ अतीत और अना-गतकालके अनंत समयोंमें, अनंत अवस्थास्वरूप हैं।

उन अनंत अवस्थारूप पदार्थोंके सम्बन्धसे, वर्तमानकाल सम्बन्धी प्रकृत घटका उत्पाद, ऊंचा नीचा, तिर्छा, निकट, दूर आदि दिग्भेद रूप; बड़ा, छोटा, आदि गुणभेद रूप; और स्पर्श, रस, गंध, वर्णके उत्कर्ष, अपकर्ष स्वरूप अनन्त भेदरूप है। तथा एक घट अपने अवयवरूप अनेक प्रदेशोंका स्कंध है। उन अनेक अवयवोंमें उस घटका सर्वत्र सदृश उत्पाद नहीं है किंतु विषमरूप है।

इस कारण वह घटोत्पाद अनेक स्वरूप है; तथा वह उत्पादस्वरूप घट, जलादिधारण, ग्रहण, प्रदान, अधिकरण, भयजनन, शोकजनन, हर्षजनन, परितापजनन, आदि अनेक कार्यका साधक है इसलिये अनेक स्वरूप है। तथा जिस समयमें वह घटका एक उत्पाद अनेक स्वरूप है उस ही समयमें उस उत्पादके प्रतिपक्षी व्यय भी अनेक स्वरूप हैं; क्योंकि, व्ययके विना उत्पाद नहीं हो सकता। तथा उस ही समयमें उत्पाद और व्यय इन दोनोंका प्रतिपक्षी ध्रौव्य भी अनेक स्वरूप है; क्योंकि ध्रौव्यके विना उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते।

जो ध्रौव्यके विना भी उत्पाद और व्यय मानोगे तो वस्तुके अभावका प्रसंग आवेगा। क्योंकि जिस समय कुम्भकार घटको बना रहा है उस समय घटका उत्पाद कहोगे तो अभी घट पूर्णरूपसे बन ही नहीं चुका है तो घटका उत्पाद किस प्रकार कह सकते हो? अथवा जब कुम्भकार घटको बना चुका उस समयमें घटका उत्पाद कहोगे तो, ध्रौव्यको नहीं माननेवाला जो क्षणिकवादी उत्पादके समयसे अनन्तर समयमें व्यय मानता है,

अन्यथा ध्रौव्यका अंगीकार हो जायगा, उसके मतानुसार घट विनाशके समयमें घटका उत्पाद हुआ, सो भी विरुद्ध है इस-प्रकार ध्रौव्यके न माननेसे उत्पाद्यमान अवस्थामें भी घटका उत्पाद नहीं कह सकते और उत्पन्न अवस्थामें भी घटका उत्पाद नहीं कह सकते तो घटाश्रित व्यवहारके लोपका प्रसंग आया, तथा ध्रौव्यके न माननेवालेके, कारण शक्तिके अभावसे उत्पाद और व्यय शब्दकी वाच्यता घटित नहीं हो सकती, इसलिए ध्रौव्य मानना परमावश्यक है।

इस ही प्रकार एक जीवके, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयके विषयभूत सामान्य विशेष रूप अनन्तशक्तियोंकी अपेक्षासे अर्पित उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक अनन्त स्वरूप होनेसे अनेकांतात्मकता है।

(११) अथवा जैसे एक घट अन्वय व्यतिरेक स्वरूप होनेसे सत्, अचेतन, नवीन, जीर्ण इत्यादि अनेक स्वरूप दीखता है, उस ही प्रकार एक जीव भी अन्वयव्यतिरेकस्वरूप होनेसे अनेकांतात्मक है।

शंका—अन्वयव्यतिरेक किसको कहते हैं?

समाधान—जो धर्म निरन्तर अनुवृत्तिरूप होते हैं उनको अन्वय कहते हैं। जैसे जीवके अस्तित्व, जीवत्व, ज्ञातृत्व, दृष्टत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अमूर्त्तत्व, असंख्यातप्रदेशत्व, अवगाहत्व, अतिसूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अहेतुकत्व, अनादिसम्बन्धित्व, ऊर्द्ध-गतिस्वभावत्व, इत्यादि अन्वय धर्म हैं।

जो धर्म व्यावृत्तिरूप, परस्पर विलक्षण, उत्पत्ति, स्थिति, परिणमन, वृद्धि, ह्रास, विनाशस्वरूप हैं उनको व्यतिरेक कहते हैं, जैसे जीवके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, सम्यक्तादिक व्यतिरेक धर्म हैं।

उस अनेकांतात्मक एक जीवका शब्दद्वारा प्रतिपादन दो प्रकारसे होता हैं अर्थात् १ क्रमसे, २ युगपत्। भावार्थ–जिससमय कालादिसे (इनका स्वरूप आगे कहेंगे) अस्तित्वादिक धर्मोंकी भेदविवक्षा है, उस समय एक शब्द अनेक धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ होनेसे, जीवका निरूपण क्रमसे कहा जाता है; और जिस समय उन ही धर्मोंका कालादिसे अभेदवृत्तितें निजस्वरूप कहा जाता है, उस समय, एक ही शब्दके एक धर्म प्रतिपादन मुखसे, समस्त अनेक धर्मोंकी प्रतिपादकता संभव है, इसलिये जीवका निरूपण युगपत्पनेसे कहा जाता है।

जब युगपत्पनेसे निरूपण होता है तब सकलादेश होता है, उसहीको प्रमाण कहते हैं, क्योंकि " सकलादेश प्रमाणके आधीन है " ऐसा वचन है। और जब क्रमसे निरूपण होता है, तब विकलादेश होता है उसहीको नय कहते हैं क्योंकि, " विकलादेश नयके आधीन है " ऐसा वचन है।

शंका—सकलादेश किस प्रकार है?

समाधान—एक गुणके द्वारा वस्तुके समस्त स्वरूपोंका संग्रह होनेसे सकलादेश है।

भावार्थ—अनेक गुणोंका जो समुदाय है उसको द्रव्य कहते हैं, गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है इसलिये उसका निरूपण गुणवाचक शब्दके विना नहीं हो सकता. अतः अस्तित्वादि अनेक गुणोंके समुदायरूप एक जीवका, निरंशरूप समस्तपनेसे, अभेदवृत्ति तथा अभेदोपचार करि, एक गुणके द्वारा प्रतिपादन होता है और विभागके कारण दूसरे प्रतियोगी गुणोंकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये जिस समय एक गुणके द्वारा अभिन्न स्वरूप एक वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है उस समय सकलादेश होता है।

शंका—अभेदवृत्ति अथवा अभेदोपचार किस प्रकार है ?

समाधान—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वे सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं इसलिये अभेदवृत्ति है, तथा यद्यपि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे वे समस्त धर्म परस्पर भिन्न भी हैं तथापि एकताके अध्यारोपसे अभेदोपचार है।

इसका खुलासा इस प्रकार है कि, पूर्वाचार्योंने तत्वाधिगमका हेतु दो प्रकार वर्णन किया है-१ स्वाधिगमहेतु, २ पराधिगमहेतु। स्वाधिगमहेतु ज्ञानस्वरूप है, उसके भी दो भेद हैं—१ प्रमाण, २ नय। पराधिगमहेतु वचनस्वरूप है वह वचनस्वरूप वाक्य दो प्रकारका है—१ प्रमाणात्मक २ नयात्मक। जिस वाक्यसे एक गुणद्वारा अभिन्नरूप समस्त वस्तुका निरूपण किया जाता है उस वाक्यको प्रमाणवाक्य कहते हैं इसहीका नाम सकलादेश है, और जो वाक्य अभेदवृत्ति और अभेदोपचारका आश्रय न करके वस्तुके किसी एक धर्मविशेषका बोधजनक है, उस वाक्यको नयवाक्य कहते हैं, इसहीका नाम विकलादेश है।

इन दोनोंमेंसे प्रत्येकके सात सात भेद हैं अर्थात् प्रमाणवाक्यके सात भेद हैं इसहीको प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं। इस ही प्रकार नयवाक्यके भी सात भंग हैं और इसहीका नाम नयसप्तभंगी है।

(सप्तभंग अर्थात् वाक्योंके समूहको सप्तभंगी कहते हैं) सप्तभंगीका लक्षण पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है—“ प्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेनविधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी ” अर्थात् प्रश्नके वशसे किसी एक वस्तुमें अविरोध रूपसे विधि तथा प्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं जैसे—१ स्यादस्त्येवजीवः २ स्यान्नास्त्येवजीवः ३ स्यादवक्तव्यएवजीवः ४ स्यादस्तिनास्तिचजीवः ५ स्यादस्तिचावक्तव्यश्चजीवः ६ स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्चजीवः ७

स्यादस्तिनास्तिचावक्तव्यश्चजीवः। अब पहले ही सकलादेशका कथन करते हैं—

सकलादेशमें प्रत्येक पदार्थके प्रति सात सात भंग जानने अर्थात् १ कथंचित् जीव है ही, २ कथंचित् जीव नहीं ही है, ३ कथंचित् जीव अवक्तव्य ही है, ४ कथंचित् जीव है और नहीं है, ५ कथंचित् है और अवक्तव्य है, ६ कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है, ७ कथंचित् जीव है, नहीं है और अवक्तव्य है। इस ही प्रकार समस्त पदार्थों पर लगा लेना। इन सात भंगोंमेंसे पहले "स्यादस्त्येवजीवः" इस प्रथम भंगका अर्थ लिखते हैं—

प्रथमभंगमें चार पद हैं—१. स्यात्, २. अस्ति, ३. एव, ४. जीवः इनमें जीवपद द्रव्यवाचक है और अस्तिपद गुणवाचक है अर्थात् "जीवः अस्ति" का अर्थ जीवद्रव्य अस्तित्व गुणवान् है, इनमें जीव विशेष्य है और अस्तित्व विशेषण है, अर्थात् जीव अस्तित्ववान् है ऐसा अर्थ हुआ। प्रत्येक वाक्य कुछ न कुछ अवधारण (नियम) अवश्य करता है। यदि नियम रहित वाक्य माना जाय तो वाक्यके प्रयोगको अनर्थकता आवेगी।

उक्तं च "वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्तव्य-मन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्॥" अर्थात् अनिष्टकी निवृत्तिके वास्ते वाक्यमें अवधारण अवश्य करना चाहिये अन्यथा वाक्य, कदाचित् अनुक्तके समान ही होगा, इसलिये जीवः अस्ति (जीव अस्तित्ववान है) इस वाक्यमें भी अवधारण अवश्य होना चाहिये अर्थात् अवधारण (नियम) वाचक एव (ही) शब्दका प्रयोग जीव पदके साथ करना चाहिये।

जीवः अस्ति ये दो पद हैं इनमेंसे, एव शब्दका प्रयोग जीव पदके साथ करना अथवा अस्ति पदके साथ। जो जीव पदके

साथ एवका प्रयोग किया जायगा तो वाक्यका आकार इस प्रकार होगा "जीव एव अस्ति" अर्थात् जीव ही अस्तित्ववान् है और ऐसी अवस्थामें जीवसे भिन्न पुद्गलादिकके नास्तित्व (अस्तित्वके अभाव) का प्रसंग आया, इसलिये जीवके साथ एवकारका सम्बन्ध इष्ट नहीं है, इस कारण अस्तिपदके साथ एवका प्रयोग करना चाहिये।

ऐसा करनेसे वाक्यका आकार इस प्रकार होगा "जीवः अस्ति एव" अर्थात् जीव अस्तित्ववान् ही है, ऐसा होनेसे जीवमें केवल एक अस्तित्व धर्म (गुण) ही है अन्यधर्म नहीं हैं, ऐसा अनिष्ट अर्थ होने लगेगा, क्योंकि पहले जीवको अनेक धर्मात्मक (अनेकांतात्मक) सिद्ध कर चुके हैं इसलिये शेष अनेक धर्मोंकी संभवता दिखलानेके लिये स्यात् शब्दका प्रयोग किया है और ऐसा होनेसे वाक्यका आकार इस प्रकार हुआ "स्यादस्त्येवजीवः" अर्थात् कथंचित् (किसी अपेक्षासे) जीव अस्तित्ववान् ही है।

भावार्थ—यद्यपि किसी अपेक्षासे जीव अस्तित्ववान् ही है तथापि किसी दूसरी अपेक्षासे नास्तित्वादि धर्म संयुक्त भी है, और ऐसा होनेसे पदार्थका स्वरूप निर्दोष सिद्ध होता है। यह स्यात् शब्द यद्यपि अनेकांत, विधि, विचार आदि अनेक अर्थोंका वाचक है, तथापि यहांपर विवक्षा (वक्ताकी इच्छा) से अनेकांत वाचकका ग्रहण है।

शंका—यदि स्यात् शब्द अनेकांतवाचक है तो स्यात् शब्दसे ही "जीव अनेक धर्मात्मक है" ऐसा ज्ञान हो जायगा, तो अस्त्यादि पदोंका प्रयोग व्यर्थ है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्यात् शब्दसे सामान्य रूपसे अनेकांत पक्षका बोध होनेपर भी विशेष रूपसे

बोध करानेके लिये अस्त्यादि पदोंका प्रयोग करना चाहिये। जैसे आम्रफल इस वाक्यमें यद्यपि फल शब्दसे ही फल सामान्यका बोध हो जाता है तथापि फलविशेषका ज्ञान करानेके लिये आम्र शब्दका ग्रहण किया है। अथवा स्यात् शब्द अनेकांतार्थका द्योतक है, और जो द्योतक होता है वह द्योत्य पदार्थके वाचक शब्दके प्रयोगकी निकटताके विना द्योतन नहीं कर सकता है, इसलिये द्योत्य धर्मके आधारभूत पदार्थोंका कथन करनेके लिये जीवादिक दूसरे पदोंका प्रयोग है।

शंका—यदि स्यात् शब्द अनेकांतार्थका द्योतक है तो द्योत्यरूप अनेक धर्मोंका प्रतिपादक कौन है।

समाधान—पहले कह चुके हैं कि, अभेदवृत्ति तथा अभेदोपचारसे प्रयुक्त किसी एक धर्मके वाचक शब्दको ही वाच्यताको शेष अनेक धर्म प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो शब्द प्रधानभूत किसी एक धर्मका वाचक है, वही शब्द अभेदवृत्ति तथा अभेदोपचारकी अपेक्षासे शेष अनेक धर्मका वाचक है इस ही प्रकार दूसरे धर्मोंमें लगा लेना।

शंका—यदि ऐसा है तो "स्यादस्त्येवजीवः" इस एक ही सकलादेशरूप वाक्यसे जीव द्रव्यगत समस्त धर्मोंका संग्रह हो जायगा, फिर द्वितीयादिक भंगोंका प्रयोग व्यर्थ है।

समाधान—सो ठीक नहीं है। जिस वाक्यमें जिस धर्मवाचक शब्दका प्रयोग है वह तो प्रधान है और शेष धर्म गौण है। जैसे प्रथम भंगमें अस्तित्व धर्म वाचक शब्दका प्रयोग है इस कारण अस्तित्व धर्मकी प्रधानता है, नास्तित्ववादिककी गौणता है, तथा दूसरे भंगमें नास्तित्वधर्म वाचक शब्दका प्रयोग है इसलिये नास्तित्व धर्मकी प्रधानता है शेष धर्मोंकी गौणता है। इस ही प्रकार अन्य भंगोंमें भी समझना।

इसलिये समस्त भंगोंका प्रयोग सार्थक है उसका खुलासा इस प्रकार है कि प्रथम भंगमें द्रव्यार्थिककी प्रधानता और पर्यायकी गौणता है। दूसरे भंगमें पर्यायार्थिककी मुख्यता और द्रव्यकी गौणता है, जो शब्दके प्रयोगसे गम्यमान होता है उस धर्मकी प्रधानता कही जाती है, और जो शब्दके प्रयोग विना अर्थसे गम्यमान होता है उसकी गौणता कही जाती है। तीसरे भंगमें युगपत् दोनों धर्मोंका सद्भाव होनेसे तथा शब्द प्रयोगसे वाच्यता न होनेके कारण, दोनोंकी अप्रधानता है।

चौथे भंगमें क्रमसे दोनोंका अस्त्यादि शब्दसे ग्रहण किया है इसलिये दोनोंकी प्रधानता और दोनोंकी अप्रधानता है। पाँचवें भंगमें द्रव्यकी प्रधानता और दोनोंकी अप्रधानता है। छठे भंगमें पर्यायकी प्रधानता है। सातवें भंगमें दोनोंकी प्रधानता और दोनोंकी अप्रधानता है (इनका स्पष्टीकरण आगे होगा।)

शंका—जब पदार्थ अनेकांत स्वरूप है ही तो पदार्थकी शक्तिसे ही बोध हो जायगा, स्यात् शब्दके प्रयोग करनेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—यद्यपि जो महाशय स्याद्वाद विद्यामें कुशल हैं उनके स्यात् शब्दके विना भी बोध हो सकता है तथापि अव्युत्पन्न शिष्यकी अपेक्षासे स्यात् शब्दका प्रयोग आवश्यक है।

अब यहां अस्तित्व एकांत पक्षवाला कहता है कि, जीव अस्तित्वस्वरूप ही है नास्तिकस्वरूप नहीं है। वाक्यमें अवधारण अवश्य होना चाहिये, और उस अवधारणवाचक एव शब्दका जीवके साथ संबंध करनेसे अनिष्ट अर्थकी प्रतीति होती है अर्थात् अजीवके अभावका प्रसंग आवेगा।

इस कारण एव शब्दका अस्तिके साथ संबंध करना, तब

जीव है ही ऐसा अर्थ हुआ (समीक्षक) यदि ऐसा है तो इस एकांतरूप वाक्यका यह भावार्थ हुआ कि, जीवकी सर्व अस्तित्वके साथ व्याप्ति है अर्थात् पुद्गलादिक अजीवका अस्तित्व भी जीवमें है। (एकांती) नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं है, जीवकी अस्तित्व सामान्यके साथ व्याप्ति है, अस्तित्व विशेषके साथ व्याप्ति नहीं है। व्याप्तिका ग्रहण सामान्यपनेसे होता है।

जैसे धूमकी जो अग्निके साथ व्याप्ति है वह धूम सामान्यकी अग्नि सामान्यके साथ है। सर्व प्रकारके धूमकी सर्व प्रकारकी अग्निके साथ व्याप्ति नहीं है अर्थात् धूमसामान्यजन्य है। सर्व प्रकारके धूम सर्व प्रकारके अग्निजन्य नहीं है किंतु अग्निसामान्य जन्य है।

लकड़ी, कोयला, छाना आदिगत अग्नि व्यक्तिजन्य नहीं है (समीक्षक) यदि ऐसा है तो अवधारणकी निष्फलता तुम्हारे ही वचनसे सिद्ध हो गई, क्योंकि तुम्हारा वचन इस प्रकार है कि धूम अग्नि सामान्यजन्य है, अग्नि विशेपजन्य नहीं है (एकांती) जो धूमविशेष जिस अग्निविशेपसे उत्पन्न हुआ है वह धूम उस स्वगत अग्निविशेषजन्य तो है ही (समीक्षण) जब आप स्वगत ऐसा विशेषण लगाते हैं तो आपके इस वाक्यसे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि कोई धूमविशेप स्वगत अग्निजन्य है परगत अग्निजन्य नहीं है, तो कहिये अब अवधारण कहां रहा; और अवधारणके बिना वाक्यकी स्थिति ऐसी होगी कि, धूम अग्निजन्य है और इस प्रकार अग्निजन्यत्वका अवधारण न होनेसे अग्निजन्यत्वके अभावका भी प्रसंग आया।

इस ही प्रकार यदि अस्तित्वसामान्यसे जीव है पुद्गलादिगत अस्तित्वव्यक्तिसे जीव नहीं है, इस कारण "पुद्गलादिके अस्तित्वसे जीव नहीं" ऐसे आपके वाक्यसे ही सिद्ध होता है

कि, आप अस्तित्वके दो भेद स्वीकार करते हैं अर्थात् अस्तित्व-सामान्य और अस्तित्वविशेष, और ऐसा होनेपर अस्तित्व सामान्यसे जीव है और अस्तित्वविशेषसे जीव नहीं है इसलिए कथंचित् जीव नहीं है ऐसा फलितार्थ हुआ अर्थात् अवधारणकी निष्फलता हुई, अवधारण तो तब फलवान् होता जब सब प्रकारसे जीवके अस्तित्व होता और किसी भी प्रकार नास्तित्व नहीं होता, और जब आपका ऐसा नियम ही नहीं है तो अवधारणकी सफलता कैसे होय, और जो अवधारणकी सफलताके वास्ते ऐसे नियमको मानोगे तो पुद्गलादिकके अस्तित्वसे भी जीव है ऐसे अनिष्ट अर्थकी प्रतीति होगी। इस प्रकार "स्याद्स्त्येवजीव:" इन चारों पदोंका प्रयोग समुचित है। अब आगे यह अस्तित्व किस अपेक्षासे है सोई दिखलाते हैं।

स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षासे जीव है और परद्रव्यक्षेत्र-कालभावकी अपेक्षासे जीव नहीं है क्योंकि उनके अप्रस्तुतपना है, जैसे घट, द्रव्यसे पृथ्वीपनेसे, क्षेत्रसे इस क्षेत्रस्थपनेसे, कालसे वर्तमानकालसंबंधीपनेसे, और भावसे रक्तताआदिसे है, परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे नहीं है क्योंकि उनके अप्रस्तुतपना है अर्थात् परद्रव्यक्षेत्रकाल भावसम्बंधीपनेसे नहीं है और इस प्रकार स्यादस्ति, स्यान्नास्ति ये दो वाक्य सिद्ध हुये। यदि "स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षासे अस्तित्व है, परद्रव्यक्षेत्रकाल-भावकी अपेक्षासे नास्तित्व है" ऐसा नियम नहीं मानोगे तो घट घट ही नहीं हो सकता।

क्योंकि ऐसा नियम न माननेसे उस घटका किसी नियमित द्रव्यक्षेत्रकालभावसे सम्बन्ध ही नहीं ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें आकाशके पुष्पसमान अभावस्वरूपका प्रसंग आवेगा, अथवा जब घटका अनियमित द्रव्यक्षेत्रकालभावसे सम्बन्ध है तो सर्वथा भावस्वरूप होनेसे, वह सामान्य पदार्थ हुआ घट नहीं हो

सकता, जैसे महासामान्य अनियत द्रव्यादिसे संबंधित होनेके कारण सामान्य पदार्थ है उस ही प्रकार घट भी सामान्यरूप ठहरेगा घट नहीं हो सकता, उसका खुलासा इस प्रकार है कि, जैसे यह घट द्रव्यकी अपेक्षासे पृथ्वीपनेसे है उस ही प्रकार जलादिकपनेसे भी होय तो यह घट ही नहीं ठहरेगा।

क्योंकि इस प्रकार द्रव्यके अनियमसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, जीव आदि अनेक द्रव्यस्वरूप होनेका प्रसंग आवेगा। तथा जैसे इस क्षेत्रस्थपनेसे है उस ही प्रकार अनियत अन्य समस्तक्षेत्रस्थपनेसे भी होय तो यह घट ही नहीं ठहरेगा क्योंकि आकाशके समान सर्वत्र सद्भावका प्रसंग आवेगा। अथवा जैसे वर्तमानघटकालकी अपेक्षासे है उस ही प्रकार अतीत पिंडादिकाल, अथवा अनागतकपालादिकालकी अपेक्षासे भी हो तो वह घट ही नहीं ठहरेगा, क्योंकि मृत्तिकाकी तरह सर्वकालसे संबंधका प्रसंग आवेगा, अथवा जैसे इस क्षेत्रकालके संबंधीपनेसे हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय है उस ही प्रकार अतीत अनागतकाल तथा अन्यदेशसंबंधीपनेसे भी हमारे प्रत्यक्षके विषयपनेका प्रसंग आवेगा अथवा जैसे वर्तमानक्षेत्रकालमें जलधारण कर रहा है उस ही प्रकार अन्यक्षेत्रकालमें भी जलधारणका प्रसंग आवेगा। तथा जिस प्रकार नवीनपनेसे घट है उस ही प्रकार पुराण तथा समस्त स्पर्श रस गंध वर्णादिपनेसे भी हो तो वह घट ही नहीं ठहरेगा क्योंकि ऐसा माननेसे घटके सर्व भावस्वरूप होनेका प्रसंग आवेगा, जैसे भाव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, पृथु, महान्, ह्रस्व, पूर्ण, रिक्त आदि अनेक स्वरूप होता है, ऐसा ही घट ठहरेगा परन्तु भाव, घट नहीं है इसलिये घट भी घट नहीं ठहरेगा।

इस ही प्रकार जीवपर भी लगाना अर्थात् मनुष्य जीवके स्वद्रव्यक्षेत्र कालभावकी अपेक्षासे ही अस्तित्व है, परद्रव्यादिकी

अपेक्षा अस्तित्व नहीं है, यदि परद्रव्यादिकी अपेक्षासे भी मनुष्यका अस्तित्व हो, तो खरविषाणवत् मनुष्यका अभाव ही ठहरेगा, अथवा अनियत द्रव्यादि स्वरूपसे सामान्य पदार्थका प्रसंग आवेगा, जैसे महासामान्यका कोई नियत द्रव्यादि नहीं हैं उस ही प्रकार मनुष्यका भी नियत द्रव्यादि न होनेसे मनुष्य, सामान्य ठहरेगा।

भावार्थ—जसे मनुष्य जीव द्रव्यपनेसे है उस ही प्रकार यदि पुद्गलादिपनेसे भी हो तो यह मनुष्य ही नहीं ठहरे, क्योंकि ऐसा होनेसे पुद्गलादिमें भी मनुष्यपनेका प्रसंग आवेगा, तथा जैसे इस क्षेत्रस्थ पनेसे मनुष्य है उस ही प्रकार यदि अन्य क्षेत्रस्थपनेसे भी होय तो मनुष्य ही नहीं ठहरै। क्योंकि ऐसा न होनेसे आकाशवत् सर्वगतपनेका प्रसंग आवेगा, तथा जैसे वर्तमानकालकी अपेक्षासे मनुष्य है उस ही प्रकार यदि नरकादि अतीत और देवादि अनागतकालपनेसे भी होय तो वह मनुष्य ही नहीं ठहरै, क्योंकि ऐसा होनेसे सदाकाल मनुष्यपनेका प्रसंग आवेगा, अथवा जैसे वर्तमानकालकी अपेक्षासे हमारे प्रत्यक्ष है उस ही प्रकार अन्यक्षेत्र तथा अतीत अनागतकालमें भी हमारे प्रत्यक्ष-पनेका प्रसंग आवेगा तथा जैसे यौवनपनेसे मनुष्य है उस ही प्रकार वालवृद्धादिपनेसे अथवा अन्य द्रव्यगतरूप पर सादिपनेसे भी हो तो यह मनुष्य ही ही नहीं ठहरे क्योंकि ऐसा होनेसे मनुष्यके सर्व भावस्वरूप होनेका प्रसंग आवेगा, इसलिये स्यादस्ति, स्यान्नास्ति ये दो वाक्य सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—जीवके स्वसत्ताका सद्भाव और परसत्ताका अभाव है इसलिये स्यादस्तिस्वरूप है स्यान्नास्तिस्वरूप है क्योंकि स्वसत्ताका ग्रहण और परसत्ताका त्याग यही वस्तुका वस्तुत्व है। यदि स्वसत्ताका ग्रहण न होय तो वस्तुके अभावका प्रसंग आवेगा,

तथा जो परसत्ताका त्याग न होय तो समस्त पदार्थ एकरूप हो जांयगे, अर्थात् जो जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न रक्खे तो जीव, जीव न ठहरेगा, क्योंकि सत्स्वरूप होते संते विशेष स्वरूपसे अनवस्थित है।

भावार्थ—जैसे महासत्ता सत्स्वरूप होकर विशेष रूपसे अनवस्थित होनेसे सामान्य पदवाच्य ही हो सकती है उस ही प्रकार जीव भी परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न रखनेपर सत्स्वरूप होकर विशेष स्वरूपसे अनवस्थित होनेसे सन्मात्र ही ठहरेगा, जीव नहीं ठहरेगा, तथा जीवके परसत्ताके अभावकी अपेक्षा होते संते भी यदि स्वसत्ता परिणतिकी अपेक्षा न करे तौ भी उसके वस्तुत्व अथवा जीवत्व नहीं ठहरेगा। क्योंकि स्वसत्ताका भी अभाव और परसत्ताका भी अभाव होते संते आकाशपुष्पके समान शून्यताका प्रसंग आवेगा। इसलिये परसत्ताका अभाव भी अस्तित्व स्वरूपके समान स्वसत्ताके सद्भावकी अपेक्षा रखता है अर्थात् जैसे अस्तित्व स्वरूप, अस्तित्वरूपसे है, नास्तित्व-स्वरूपसे नहीं है उस ही प्रकार परसत्ताका अभाव भी स्वसत्ताके सद्भावकी अपेक्षा रखता है, इसलिये जीव स्यादस्ति और स्यान्नास्ति स्वरूप है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो वस्तुके अभावका प्रसंग आवेगा।

उसका खुलासा इस प्रकार है कि, अभाव समस्त पदार्थोंसे निरपेक्ष, अत्यंत शून्य पदार्थका प्रतिपादक और दूसरेके अन्वयके अवलंवनसे रहित है; तथा भाव अभावसे निरपेक्ष, समस्त सद्रूप वस्तुका प्रतिपादक और व्यतिरेकके अवलंवनसे रहित है; इसलिये कोई भी वस्तु सर्वथा अभावस्वरूप नहीं हो सकती, क्या कभी किसीने किसी वस्तुको सर्वथा भावस्वरूप अथवा अभावस्वरूप देखा है? कदापि नहीं! यदि वस्तु सर्वथा भाव-

स्वरूप अथवा सर्वथा अभावस्वरूप होय तो वस्तु वस्तु ही नहीं ठहरेगी क्योंकि सर्वथा अभावस्वरूप माननेसे आकाशके पुष्प समान शून्यताका प्रसंग आवेगा और जो सर्वथा भाव-स्वरूप वस्तुको माना जाय तो वस्तुका प्रतिपादन ही नहीं हो सकता, क्योंकि जब सर्वथा भावस्वरूप है तो जैसे भावके सद्भावकी अपेक्षासे है उस ही प्रकार अभावके सद्भावकी अपेक्षासे भी होने पर भावापेक्षित वस्तुत्वकी तरह अभावापेक्षित अवस्तुत्वका भी प्रसंग आया और ऐसी अवस्थामें वही वस्तु और वही अवस्तु होनेसे वस्तुका प्रतिपादन ही नहीं हो सकता, क्योंकि अभावभावसे विलक्षण है इसलिए क्रिया और गुणके व्यपदेशसे रहित है और भाव-अभावसे विलक्षण है इसलिए क्रिया और गुणके व्यपदेशसहित है, और भाव और अभावकी परस्पर अपेक्षासे अभाव अपने सद्भाव और भावके अभावकी अपेक्षा रखता हुआ सिद्ध होता है और इस ही प्रकार भाव भी अपने सद्भाव और अभावके अभावकी अपेक्षा रखता हुआ सिद्ध होता है।

यदि अभाव एकांतसे है ऐसा मानोगे तो सर्वथा अस्ति-स्वरूप माननेसे अभावमें भाव अभाव दोनोंके सद्भावका प्रसंग आया और ऐसी अवस्थामें भाव और अभावका संकर होनेसे अस्थिस्वरूपपनेसे दोनोंके अभावका प्रसंग आया, और यदि अभाव एकांतसे नहीं है ऐसा मानोगे तो जैसे अभावमें भावका अभाव है उस ही प्रकार अभावके भी अभावका प्रसंग आवेगा और ऐसा होनेसे आकाशके पुष्पोंका भी सद्भाव ठहरेगा। इस ही प्रकार भाव एकांतमें भी लगाना, इसलिये भाव स्यात् है स्यात् नहीं है तथा अभाव भी स्यात् है स्यात् नहीं है इस ही प्रकार जीव भी स्यात् है स्यात् नहीं है ऐसा निश्चय करना योग्य है।

शंका—विधि होते संते ही निषेधकी प्रवृत्ति होती है इस न्यायसे जब जीवमें पुद्गलादिककी सत्ता प्राप्त ही नहीं है तो उसका निषेध करनेका क्या प्रयोजन ? अर्थात् जब जीवोनास्ति इस पदका यह अर्थ है कि, जीवमें पुद्गलादिककी सत्ता नहीं है तो जब जीवमें पुद्गलादिककी सत्ताकी प्राप्ति ही नहीं तो निषेध क्यों।

समाधान—जीव भी पदार्थ है और पुद्गलादिक भी पदार्थ हैं इसलिए पदार्थ सामान्यकी अपेक्षासे जीवमें पुद्गलादिक समस्त पदार्थोंका प्रसंग सम्भव ही है, परन्तु पदार्थ विशेषकी अपेक्षासे जीव पदार्थके अस्तित्वका स्वीकार और पुद्गलादिकके अस्तित्वके निषेधसे ही जीव स्वरूपलाभको प्राप्त हो सकता है अन्यथा यह जीव ही नहीं ठहरेगा क्योंकि जब पुद्गलादिकके अस्तित्वका निषेध नहीं है तो जीवमें पुद्गलादिकका भी ज्ञान होने लगेगा और ऐसी अवस्थामें एक ही पदार्थमें समस्त पदार्थोंका बोध होनेसे व्यवहारके लोपका प्रसग आवेगा।

सिवाय इसके जीवमें जो पुद्गलादिकका अभाव है सो जीवका ही धर्म है न कि पुद्गलादिकका, क्योंकि जैसे जीवका अस्तित्व जीवके आधीन होनेसे जीवका धर्म है इसलिए जीवकी स्वपर्याय है, परन्तु पुद्गलादिकपरसे विशेष्यमाण है इसलिए उपचारसे परपर्याय है, सो ठीक ही है क्योंकि वस्तुके स्वरूपका प्रकाशन स्वविशेषण तथा परविशेषणके आधीन है।

शंका—अस्त्येवजीवः इस वाक्यमें अस्ति शब्दके अर्थसे जीव शब्दका अर्थ भिन्नस्वरूप है ? अथवा अभिन्नस्वरूप है ? यदि अभिन्नस्वरूप है तो अस्ति और जीव इन दोनों शब्दका एक ही अर्थ हुआ और जब दोनों शब्दका एक ही अर्थ है तो सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। अनेक पदार्थोंके एक आधार होनेको सामानाधिकरण्य कहते हैं, परंतु जब अस्ति और जीव

इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है तो सामानाधिकरण्य कैसे होगा, और जब सामान्याधिकरण्य नहीं तो विशेष्यविशेषण-भाव ही नहीं बन सकता, क्योंकि घट और कुटशब्दकी तरह अस्ति और जीव ये दोनों शब्द पर्यायवाची हुए, इस लिये दोनोंमेंसे किसी एक शब्दका ही प्रयोग समुचित है, अन्यथा पुनरुक्त दोप आवेगा। अथवा सत्व समस्त द्रव्य पर्यायोंसे संबंधित है इसलिये उस सत्वसे अभिन्नस्वरूप जीव भी वैसा ही हुआ इसलिये समस्त तत्वोंके अविशेषतासे जीवत्वका प्रसंग आया, तथा जीवके सत्स्वरूप होनेसे चेतना, ज्ञान, दर्शन, सुख, क्रोध, मान, माया, लोभ, नारकत्व आदि जीवके स्वरूपोंके अभावका प्रसंग आवेगा।

अथवा जब अस्तित्व जीवस्वरूप है तो जीव पुद्गलादिक समस्त द्रव्योंमें सत् ज्ञान तथा सत् शब्दकी प्रवृत्तिके अभावका प्रसंग आवेगा। और जो अस्ति शब्दके अर्थसे जीव शब्दके अर्थको भिन्नस्वरूप मानोगे तो स्वयं जीवके ही अभावका प्रसंग आवेगा क्योंकि जीवको अस्ति शब्दके अर्थ "सद्भाव" से भिन्न-स्वरूप माना है, जैसे खरविपाण (गधेके सींग) सद्भावसे भिन्न अभावस्वरूप है उस ही प्रकार जीव भी सद्भावसे भिन्न अभाव-स्वरूप ठहरेगा, अथवा जब अस्ति शब्दका अर्थ जीव शब्दके अर्थसे भिन्नस्वरूप है तो अस्ति शब्दका अस्तित्व जीवस्वरूप नहीं ठहरेगा, इस प्रकार जीवका अभाव होनेसे जीवाश्रित मोक्षा-दिकके भी अभावका प्रसंग आया और इस ही प्रकार अस्तित्व भी जैसे जीवसे अर्थान्तर हुआ उस ही प्रकार अन्य पदार्थोंसे भी अर्थान्तर होनेसे निराश्रयपनेसे अभावस्वरूप ही ठहरेगा, अतएव तदाश्रित व्यवहारके भी अभावका प्रसंग आया। और जब जीव अस्तित्वसे भिन्नस्वभाव है तो जीवका वह स्वभाव क्या है सो कहना चाहिये।

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि असत्स्वभाव होनेसे आकाशके पुष्पकी तरह सब असिद्ध है, इसलिये जीव शब्दका अर्थ अस्तिशब्दके अर्थसे कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है। उसका खुलासा इस प्रकार है कि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे भवनक्रिया और जीवनक्रियामें परस्पर भेद है, इसलिये भवन और जीवन भिन्न भिन्न होनेसे एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिये अस्ति और जीव इन दोनों शब्दोंके अर्थ भिन्न२ हैं और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे भवन और जीवन इन दोनों क्रियाओंमें परस्पर अभिन्नता होनेसे एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण हो सकता है इसलिये अस्ति और जीव इन दोनों शब्दोंका अर्थ अभिन्न है। इस प्रकार स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये दो भंग सिद्ध हुए क्योंकि वाच्य, वाचक और ज्ञानकी इस ही प्रकार सिद्धि है।

शंका—जीवशब्द, जीवअर्थ और जीव ज्ञान ये तीनों, लोकमें विचारसिद्ध हैं; भावार्थ—वर्णाश्रममतके माननेवाले उस उस वर्णाश्रमकी क्रियाओंका साधन जीवका अस्तित्व मानकर करते हैं उनको शंकाकार क्षणिक विज्ञानद्वैतवादी कहता है कि, जब जीवशब्द, जीवअर्थ और जीवप्रत्यय यह तीनों ही असिद्ध हैं अर्थात् इनका अस्तित्व असिद्ध है तो जीवके अस्तित्वको मानकर वर्णाश्रमसंबंधी क्रियाओंमें प्रवृत्ति किस प्रकार ठीक हो सकती है।

जीवशब्दका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है; क्योंकि आकाशके पुष्पसमान उसकी उपलब्धि (प्राप्ति) किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, जैसे बाह्य पदार्थ कुछ भी न होनेपर स्वप्नमें अनेक पदार्थ दीखते हैं उस ही प्रकार विज्ञान ही जीवाकार परिणमै है, वास्तवमें जीव कोई पदार्थ नहीं है। विज्ञान स्वयं न तो जीवस्वरूप है और न अजीवस्वरूप है किंतु केवल प्रकाशमात्र है, और इस ही

लिये शब्द द्वारा उसका प्रतिपादन भी नहीं हो सकता, कदाचित् उसका प्रतिपादन भी किया जाय तो जैसे स्वप्नमें वाह्यवस्तु न होनेपर असत् वस्तुके आकारसे ज्ञानका प्रतिपादन (कथन) किया जाता है, उस ही प्रकार विज्ञानका भी निरूपण असत् आकारसे ही किया जाता है, और जब असत् आकारसे उसका निरूपण है तो आकाशकुसुम प्रत्यय (ज्ञान) की तरह जीव प्रत्यय (ज्ञान) भी कोई पदार्थ नहीं है। तथा जीवशब्द भी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि जीवशब्द पदरूप अथवा वाक्यरूप इन दोनोंमेंसे एकरूपी सिद्ध नहीं होता उसका खुलासा इस प्रकार है कि, शब्द अनेक अक्षरोंका समूह है, उन अनेक अक्षरोंका एक कालमें उच्चारण नहीं हो सकता किंतु उनका उच्चारण क्रमसे होता है; ये अक्षर भी वास्तवमें कोई पदार्थ नहीं हैं किंतु स्वप्नविषयक पदार्थों के समान विज्ञान ही स्वयं क्रमसे उन अनेक अक्षरस्वरूप परिणमै है इस लिये अनेक समयवर्ती विज्ञानोंका समूह ही जीवशब्द है।

स्वयं जीवशब्द कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, इन विज्ञानोंमेंसे प्रत्येक विज्ञान क्षणिक है अर्थात् प्रतिसमय नाशमान है और प्रतिसमय प्रत्येक पदार्थ वशवर्ती है अर्थात् प्रतिसमय प्रत्येक पदार्थरूप परिणमै है, इसलिये एक विज्ञान अनेक समयवर्ती पदार्थोंका प्रतिभासक नहीं हो सकता; जीवशब्द अनेक अक्षरों ा समूह है तथा वे अक्षरक्रमसे उच्चारित हैं और वे प्रत्येक अक्षर प्रत्येक समयवर्ती विज्ञानस्वरूप हैं और विज्ञान प्रतिसमय नाशमान है इसलिये जीवशब्द कोई पदार्थ ही नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम समयवर्ती अक्षररूप विज्ञानका, द्वितीयादि समयवर्ती द्वितीयादि अक्षररूप विज्ञानके समयमें अभाव है इसलिये जीवशब्द कोई पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा माननेसे

लोक-प्रसिद्ध शब्द और अर्थके वाच्यवाचक सम्बन्धके अभावका प्रसंग आवैगा, और ऐसा होनेसे लोकव्यवहारमें विरोध आवैगा, तथा तुम्हारा जो नास्तित्वपक्ष है उसकी परीक्षा तथा साधन भी नहीं हो सक्ता क्योंकि परीक्षा और साधन शब्दाधीन हैं और शब्दको तुम कोई पदार्थ ही नहीं मानते इसलिये तुम्हारा पक्ष ही सिद्ध नहीं हो सकता, इस कारण कथंचित् जीव अस्तिस्वरूप है कथंचित् नास्तिस्वरूप है ऐसा अवश्य मानना चाहिये क्योंकि द्रव्यार्थिकनय पर्यायार्थिकनयको अपनाती हुई प्रवर्ते है और पर्यायार्थिकनय द्रव्यार्थिकनयको अपनाती हुई (अपेक्षा रखती हुई) प्रवर्ते है।

अव अवक्तव्यस्वरूप तीसरे भंगका स्वरूप लिखते हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे कथंचित् जीव अस्तिस्वरूप है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कथंचित् नास्तिस्वरूप है। जिस समय वस्तुका स्वरूप एक नयकी अपेक्षासे कहा जाता है उस समय दूसरी नय सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, किंतु जिस नयकी जहां विवक्षा होती है वह नय वहां प्रधान होती है और जिस नयकी जहां विवक्षा नहीं होती है वह वहां गोण होती है।

वस्तुको पहले अनेकांतात्मक कह आये हैं अर्थात् एक ही समयमें एक ही वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं, उस अनेक धर्मात्मिक समस्त वस्तुका किसी एक धर्म (गुण) द्वारा जिस वाक्यसे निरूपण किया जाता है वह वाक्य सकलादेशरूप होता है। उस सकलादेशरूप वाक्य द्वारा जिस समय वस्तुका निरूपण किया जाता है उस समय जिस गुणरूपसे वस्तुका निरूपण किया जाता है वह गुण तो प्रधान होता है और दूसरे गुण अप्रधान होते हैं। वस्तुके समस्त ही गुण उस वस्तुमें एक समयमें पाये जाते हैं परन्तु शब्दमें इतनी शक्ति नहीं है कि,

उन अनेक गुणोंका एक समयमें निरूपण कर सके, इसलिये शब्द द्वारा उनका निरूपण क्रमसे किया जाता है, "स्यादस्त्येव जीवः" इस प्रथम भंगमें अस्तित्व धर्मकी मुख्यता है और "स्यान्नास्त्येव जीवः" इस द्वितीय भंगमें अस्तित्व धर्मकी मुख्यता है, सो इन दोनों धर्मोंकी मुख्यतासे जीवका कथन एककालमें (युगपत्) नहीं है किंतु क्रमसे (एकके पीछे दूसरा) है।

यदि एक ही काल (युगपत्) इन दोनों धर्मोंकी विवक्षा हो तो शब्द द्वारा उसका निरूपण ही नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दमें ऐसी शक्ति ही नहीं है अथवा संसारमें ऐसा कोई शब्द ही नहीं है जो वस्तुके अनेक धर्मोंका निरूपण कर सके और न ऐसा कोई पदार्थ ही है कि, जिसमें एक कालमें एक शब्दसे अनेक गुणोंकी वृत्तिनिरूपण हो सके। इसलिये युगपत् अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मोंकी विवक्षासे जीव कथंचित् अवक्तव्य (तीसरा भंग) है।

भावार्थ—इस भंगमें अवधारणात्मक (निश्चयात्मक) प्रतियोगी दो धर्मों (अस्तित्व और नास्तित्व) के द्वारा युगपत् एक कालमें एक शब्दसे समस्तरूप एक पदार्थकी अभेदरूपसे निरूपण करनेकी इच्छा है इसलिये जीव अवक्तव्य है। क्योंकि न तो कोई ऐसा पदार्थ ही है कि, जिसमें प्रतियोगी दो धर्मोंका युगपत् एक शब्दसे निरूपण हो सके और न ऐसा कोई शब्द ही है कि, जो एक कालमें एक पदार्थके दो प्रतियोगी धर्मोंका निरूपण कर सके। यहां कहनेका अभिप्राय ऐसा है कि, जीव अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्वादि अनेक धर्म-स्वरूप (अनेकांतात्मक) है।

इस अनेकांतात्मक जीवका निरूपण दो प्रकारसे होता है—एक सकलादेश रूप वाक्यसे और दूसरे विकलादेश रूप वाक्यसे।

सकलादेशरूप वाक्यसे एक गुण द्वारा अभेद विवक्षासे समस्तरूप वस्तुका निरूपण किया जाता है, और विकलादेश रूप वाक्यसे किसी एक गुणका ही निरूपण किया जाता है। सकलादेश-रूप वाक्यमें एक गुण द्वारा समस्त गुणोंका जो संग्रह किया जाता है वह कालादिक (आदि शब्दसे आत्मरूप अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्दका ग्रहण करना) से अभेद वृत्तिकी अपेक्षासे है।

भावार्थ—जीवमें जिस समय अस्तित्व धर्म है उस ही समय नास्तित्वादिक धर्म हैं इसलिये कालसे अभेदवृत्ति है? जैसे अस्तित्व धर्म जीवका गुण है उस ही प्रकार नास्तित्वादिक धर्म भी जीवके गुण हैं इसलिये आत्मरूपसे अभेदवृत्ति है।

३. जैसे अस्तित्व धर्मका जीवके साथ कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध है उस ही प्रकार नास्तित्वादिक धर्मोंका भी जीवके साथ कथंचित्तादात्म्य संबंध है इसलिए सम्बन्धमें अभेदवृत्ति है।

४. जैसे अस्तित्व धर्म, जीव और अस्तित्वमें विशेष्य-विशेषणरूप बोधजनकत्व उपकार करता है, उस ही प्रकार नास्तित्वादिक धर्मका भी उपकार है इसलिये एक कार्यजनकत्व उपकारसे अभेदवृत्ति है।

५. जीवके जिस देशमें अस्तित्व धर्म है उस ही देशमें नास्तित्वादिक धर्म भी हैं, इसलिये गुणिदेशसे अभेदवृत्ति है।

६. जिस प्रकार एक वस्तुस्वरूपसे अस्तित्वके जीवमें संसर्ग है, उस ही प्रकार नास्तित्वादिक धर्मोंका भी है इसलिए संसर्गसे अभेदवृत्ति है।

७. शंका—संसर्ग और सम्बन्धमें क्या भेद है?

समाधान—कथंचित्तादात्म्य लक्षण सम्बन्धमें अभेद प्रधान

है और भेद गौण है किंतु संसर्गमें भेद प्रधान है और अभेद गौण है। जो अस्तिशब्द अस्तित्व धर्मस्वरूप जीवका वाचक है वही अस्तित्वशब्द समस्त अनन्तस्वरूप जीवका वाचक है इसलिए शब्दसे अभेदवृत्ति है।

८. इस प्रकार अष्टभेद स्वरूप कालादिकसे पर्यायार्थिकनयकी गौणतासे और द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे अभेदवृत्ति है। इस सकलादेशके सात भंग हैं उनमेंसे पहले भंग (स्यादस्त्येव जीवः)में अस्तित्वगुणके द्वारा नास्तित्वादिक अन्य धर्मोंका संग्रह है, इसलिए अस्तित्वगुणकी प्रधानता है और अन्य धर्मोंकी अप्रधानता है। दूसरे भंग (स्यान्नास्त्येव जीवः) में नास्तित्व धर्मके द्वारा अन्य समस्त धर्मोंका संग्रह है। इसलिए नास्तित्व धर्मकी प्रधानता है अन्य समस्त धर्मोंकी अप्रधानता है।

भावार्थ—सकलादेश वाक्यमें शब्द द्वारा जिस धर्मका उच्चारण किया जाता है उस धर्मकी प्रधानता होती है और जो धर्म उच्चारण नहीं किया जाता है किंतु अर्थसे गम्यमान होता है उसकी गौणता होती है। तीसरे भंग (स्यादवक्तव्यएव जीवः)में अस्तित्व नास्तित्वरूप दो प्रतियोगी गुणोंके द्वारा एक ही कालमें एक ही शब्दसे समस्तरूप एक पदार्थकी अभेदरूपसे निरूपण करनेकी इच्छा है इसलिये जीव अवक्तव्य है क्योंकि न तो कोई ऐसा पदार्थ ही है कि, जिसमें प्रतियोगी दो धर्मोंका एक कालमें एक शब्दसे निरूपण हो सके, और न ऐसा कोई शब्द ही है कि, जो एक कालमें एक पदार्थके दो प्रतियोगी धर्मोंका निरूपण कर सके।

ऐसा होनेपर भी जीव सर्वथा अवक्तव्य नहीं है किंतु कथंचित् अवक्तव्य है। अर्थात् जब इन धर्मोंकी युगपत् विवक्षा है तब ही अवक्तव्य है, किंतु जब दोनों धर्मोंकी प्रधानतासे समस्तरूप वस्तुकी क्रमसे विवक्षा (वक्ताकी इच्छा) है उस समय जीव

कथंचित् अस्तिनास्तिस्वरूप है (स्यादस्ति च नास्ति च जीवः) और यही सप्तभंगोंमेंसे चतुर्थ भंग है, सो यह भी सकलादेशरूप चौथा भंग सर्वथा नहीं है किन्तु कथंचित् है।

यदि कोई वस्तुके स्वरूपको सर्वथा वक्तव्य ही माने कथंचित् भी अवक्तव्य नहीं माने तो इस एकांत पक्षमें अनेक दूषण आवेंगे। क्योंकि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे जब कालादिकसे अभेदवृत्तिका आश्रय किया जाता है तब ही एक समयमें एक धर्मके द्वारा सकलादेशरूप वाक्यसे वस्तुके समस्त धर्मोंका निरूपण किया जा सकता है, किन्तु जब पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा है उस समय कालादिकसे अभेदवृत्तिका संभव नहीं हो सकता उसका खुलासा इस प्रकार है—

१. क्योंकि परस्पर विरुद्धगुणोंकी एक कालमें किसी एक वस्तुमें वृत्ति नहीं दीखती, इसलिये उन विरुद्ध दो धर्मोंका वाचक कोई शब्द ही है और इस ही कारण जुदे जुदे, असंसर्गस्वरूप (परस्पर अमिश्रित) तथा अनेकांतस्वरूप सत्व और असत्व धर्म एक कालमें एक आत्मामें नहीं हैं जिससे कि, आत्माको सत्वासत्वस्वरूप कहा जाय।

२. गुणोंका आत्मरूप (निजस्वरूप) परस्पर भिन्न है एक गुण दूसरेके स्वरूपमें नहीं रहता है जिससे कि, उन दोनों गुणोंसे युगपत् अभेद स्वरूप कहा जाय।

३. एकांत पक्षमें सत्वासत्वादिक विरुद्ध गुणोंकी एक अर्थ (द्रव्य) आधाररूप वृत्ति भी नहीं है जिससे कि, अभिन्नाधारपनेसे अभेद स्वरूप युगपत् भाव कहा जाय अथवा किसी एक शब्दसे सत्व और असत्व दोनों धर्मोंका उच्चारण किया जाय।

४. संबंधसे भी गुणोंमें अभिन्नताका संभव नहीं है, क्योंकि

जैसे छत्रका देवदत्तसे जो संबंध है वही संबंध दण्डका देवदत्तसे नहीं है किंतु भिन्न है, अन्यथा दण्ड और छत्रमें एकताका प्रसंग आवेगा, उसही प्रकार सत्वका जो आत्मासे सम्बन्ध है वही सम्बन्ध असत्वका आत्मासे नहीं है किंतु भिन्न है. अन्यथा सत्व और असत्वके एकताका प्रसंग आवेगा इस लिये सत्व और असत्वका आत्मासे भिन्न सम्बन्ध होनेसे सम्बन्धकी अपेक्षासे भी युगपत् वृत्तिका संभव नहीं है जिससे कि, एक शब्दसे युगपत् निरूपण किया जाय।

शंका—दण्ड और छत्रका देवदत्तके साथ संयोग सम्बन्ध है किंतु सत्व और असत्वका आत्माके साथ समवाय (तादात्म्य) सम्बन्ध है इसलिये दृष्टांत विषम है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि समवाय संबंध भी भिन्न पदार्थोंका होता है, जैसे संयोग सम्बन्धमें जिन पदार्थोंका संयोग है वे भिन्न शब्द और भिन्न ज्ञानके विषय हैं उस ही प्रकार समवाय सम्बन्धमें जिन पदार्थोंका समवाय है वे पदार्थ भिन्न शब्द और भिन्न ज्ञानके विषय हैं।

५. उपकारकी अपेक्षासे भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं क्योंकि हलदादि रंगरूप द्रव्यसे जो वस्त्रादिक रंगे जाते हैं, सो उस हलदादिकमें वर्णगुणके जितने हीनाधिक अंश होते हैं उतना ही रंग वस्त्रपर चढता है, इसही प्रकार उसही हलदमें रसगुणके जितने हीनाधिक अंश होते हैं उतना ही स्वाद उस हलद संयुक्त दालादिक पदार्थोंमें होता है। इससे सिद्ध होता है कि, एक पदार्थके अनेक गुणोंका उपकार भिन्न भिन्न हैं. उसही प्रकारसे जीवमें भी सत्व और असत्व गुण भिन्न भिन्न हैं इसलिये उनका उपकार भी भिन्न भिन्न है इस कारण अभेद स्वरूपसे उन दोनों धर्मोंका वाचक एक शब्द नहीं हो सक्ता।

६. गुणीके एकदेशमें उपकारका संभव नहीं है जिससे कि, एक देशोपकारसे सहभाव होय, क्योंकि नीलादिक समस्त गुणके उपकारकपना है और वस्त्रादि समस्त द्रव्यके उपकार्यपना है। गुण उपकारक है और गुणी उपकार्य है, गुण और गुणीका एक-देश नहीं है जिससे कि, समस्त गुणगुणीके उपकार्य उपकारकरूप सिद्धि हो ही जाय और जिससे कि, देशसे सहभावसे किसी एकवाचक शब्दकी कल्पना की जाय।

७. एकांत पक्षमें गुणोंके मिश्रित अनेकांतपना नहीं है क्योंकि जैसे शवल (चितकवरा) रंगमें अपने अपने भिन्न भिन्न स्वरूप लिये हुए कृष्ण और श्वेतगुण भिन्न भिन्न हैं उसही प्रकार सत्व और असत्व गुण भी अपने भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हुए भिन्न भिन्न है इसलिये एकांत पक्षमें संसर्गके अभावसे एक कालमें दोनों धर्मोंका वाचक एक शब्द नहीं है क्योंकि न तो पदार्थमें ही उस प्रकार प्रवर्तनेकी शक्ति है और न वैसे अर्थका सम्बन्ध ही है।

८. एक शब्द एक कालमें दो गुणोंका वाचक नहीं है, और जो ऐसा मानोगे तो सत् शब्द अपने अर्थकी तरह असत् अर्थका भी प्रतिपादक हो जायगा, और लोकमें ऐसी प्रतीति नहीं है क्योंकि उन दो अर्थोंके प्रतिपादक भिन्न भिन्न दो शब्द हैं।

इस प्रकार कालादिकसे युगपत्भाव (अभेदवृत्ति) के असंभव होनेसे (पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे) तथा एक समयमें अनेकार्थ वाचक शब्दका अभाव होनेसे आत्मा अवक्तव्य है। अथवा एक वस्तुमें मुख्य प्रवृत्तिकरि तुल्यवलवाले दो गुणोंके कथनसे परस्पर प्रतिवन्ध (रुकावट) होनेपर प्रत्यक्ष विरुद्ध तथा निर्गुणताका दोष आनेसे विवक्षित दोनों गुणोंका कथन न होनेसे आत्मा अवक्तव्य है। यह वाक्य भी सकलादेशरूप है, क्योंकि परस्पर भिन्न-

रूपसे निश्चित गुणीके विशेषणपनेसे युगपत् विवक्षित वस्तुके अविवक्षित अन्य धर्मोंको अभेदवृत्ति तथा अभेदोपचारसे संग्रह करनेवाले सत्व और असत्व गुणोंसे अभेदरूप समस्त वस्तुके कथनकी अपेक्षा है, सो यद्यपि उपर्युक्त अपेक्षासे आत्मा अवक्तव्य शब्दसे तथा पर्यान्तरकी विवक्षासे अन्य छह भंगोंसे अवक्तव्य है इसलिये स्यात् अवक्तव्य है।

यदि सर्वथा अवक्तव्य मानोगे, तो बन्ध मोक्षादि प्रक्रियाके निरूपणके अभावका प्रसंग आवेगा और इन ही दोनों धर्मोंके द्वारा क्रमसे निरूपण करनेकी इच्छा होनेपर उस ही प्रकार वस्तुके सकल स्वरूपका संग्रह होनेसे चतुर्थ भंग (स्यादस्ति नास्ति च जीवः) भी सकलादेश है, और सो भी कथंचित् है। यदि सर्वथा उभय स्वरूप मानोगे तो परस्पर विरोध आवेगा, तथा प्रत्यक्ष विपरीत और निर्गुणताका प्रसंग आवेगा।

अब आगे इन भंगोंके निरूपण करनेकी विधि लिखते हैं—

१–अर्थ दो प्रकारका होता है–एक श्रुतिगम्य, दूसरा अर्थाधिगम्य। जो शब्दके श्रवणमात्रसे प्राप्त हो तथा जिसमें वृत्तिके निमित्तकी अपेक्षा नहीं है उसको श्रुतिगम्य कहते हैं और जो प्रकरण संभव अभिप्राय आदि शब्द न्यायसे कल्पना किया जाय उसको अर्थाधिगम्य कहते हैं। सो आत्मा अस्ति इस भंगमें नरनारकादिक आत्माके समस्त भेदोंका आश्रय न करके इच्छाके वशसे कल्पित सर्वसामान्य वस्तुत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरूप है १, तदभाव (उसका प्रतिपक्षभूत अभावसामान्यरूप अवस्तुत्व) की अपेक्षासे नास्तिस्वरुप है २, युगपत दोनोंकी अपेक्षासे अवक्तव्य स्वरुप है ३, और क्रमसे दोनोंकी अपेक्षासे दोनों स्वरूप है ४।

२–इस ही प्रकार श्रुतिगम्य होनेसे विशिष्टसामान्यरुप

आत्मीत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरूप है १, तदभावरुप अनात्मत्वकी अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है २, युगपत् दोनोंकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३, और क्रमसे दोनोंकी अपेक्षासे उभयस्वरुप है ४।

३-इस ही प्रकार श्रुतिगम्य होनेसे विशिष्टसामान्यरुप आत्मत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरूप है १, तदभावसामान्य (अंगीकृत प्रथम भंगसे विरोधके भयसे अन्य वस्तुस्वरूप पृथ्वी अप तेज वायु घट गुण कर्म आदिक)की अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है २, युगपत् उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरुप है ४।

४-विशिष्टसामान्यरुप आत्मत्वकी अपेक्षासे उभयस्वरुप है १, तद्विशेषरुप मनुष्यत्वरुपकी अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है २, युगपत् उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरूप है ४।

५-सामान्यरूप द्रव्यत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरूप है १, विशिष्ट सामान्यरूप प्रतियोगी अनात्मत्वकी अपेक्षासे नास्तिस्वरुप है २, युगपत् उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरुप है ४।

६-वस्तुकी यथासंभव विवक्षाको आश्रय करके द्रव्यसामान्यकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरुप है १, तत्प्रतियोगी गुणसामान्यकी अपेक्षासे नास्तिस्वरुप है २, युगपत् उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य स्वरुप है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरूप है ४।

७-त्रिकालगोचर अनेक शक्तिस्वरूप ज्ञानादिक धर्मसमुदायकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरूप है १, तद्व्यतिरेक (अनेक धर्मसमुदायके विपक्ष) की अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है २, युगपत्

उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्यस्वरूप है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरूप है ४।

८. धर्मसामान्यसम्बन्धकी विवक्षासे किसी भी धर्म (गुण)का आश्रय होनेसे आत्मा अस्तिस्वरूप है १, तदभाव (किसी भी धर्मका आश्रय न होने) की अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है २, युगपत् उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३. और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरूप है ४।

९. अस्तित्व, नित्यत्व, निरवयवत्व आदि किसी एक धर्म-विशेषसंबंधकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरुप है १, तदभाव (उसके प्रतिपक्षी किसी एक धर्म विशेषसंबंध) की अपेक्षासे नास्तिस्वरुप है २, युगपत् उभयकी अपेक्षासे अवक्तव्य है ३, और क्रमसे उभयकी अपेक्षासे उभयस्वरुप है ४।

अब आगे पांचवें भंगका स्वरुप लिखते हैं—

“स्यादस्ति चावक्तव्यश्च जीवः” यह पंचमभंग तीन स्वरुपसे दो अंशरूप है, अर्थात् अस्ति अंश एकस्वरुप और अवक्तव्य अंश दो स्वरुप है। अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायरुप जीव (जीवका ज्ञानगुण अनेक द्रव्यमय ज्ञेयस्वरुप परिणमे है इसलिये जीवके द्रव्यात्मकता है) किंचित् द्रव्यार्थ अथवा पर्यायार्थ विशेषके आश्रयसे अस्तिस्वरूप है, तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्य अथवा द्रव्यविशेष और पर्यायविशेषको अंगीकार करके युगपत् अभिन्न विवक्षासे अवक्तव्यस्वरूप है। जैसे जीवत्व अथवा मनुष्यत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तिस्वरूप है, तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्यकी अपेक्षासे वस्तुत्वके सद्भाव और अवस्तुत्वके अभावको अंगीकार करके युगपत् अभेद विवक्षासे जीव अवक्तव्यस्वरुप है, इसलिये उस एक ही जीवके एक ही समयमें जीवत्व मनुष्यत्व आदि समस्त धर्म

विद्यमान होनेसे जीव, स्यात्‌अस्तिस्वरुप और अवक्तव्यस्वरुप (स्यादस्तिचावक्तव्यश्च जीवः) है, सो यह भंग भी अंशोंकी अभेद विवक्षासे एक अंश द्वारा समस्त अंशोंका संग्रह करता है इसलिये सकलादेश है। अब आगे छटे भंगका स्वरुप कहते हैं—

छटा भंग (स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च जीवः) भी तीन स्वरुपसे दो अंशरुप है अर्थात् एक अंश तो नास्तिरुप है सो एक स्वरुप है और दूसरा अंश अवक्तव्यस्वरुप है सो दो स्वरुप है। अवक्तव्यस्वरुपसे अनुविद्ध (मिला हुआ) नास्तित्वभेदके विना वस्तुमें नास्तित्वधर्मकी कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि नास्तित्व भी वस्तुका धर्म विशेष है।

भावार्थ—वस्तुमें नास्तित्वधर्म पर्यायाश्रित है, उस पर्यायके दो भेद हैं—एक सहवर्ती दूसरी क्रमवर्ती, उनमेंसे गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयमादिक तो सहवर्तीपर्याय हैं क्योंकि गत्यादिक १४ मार्गणाओंमेंसे (इनका स्वरूप आगे कहा जायगा) प्रत्येक मार्गणामें समस्त जीवोंका अंतर्भाव होता है अर्थात् प्रत्येक जीव प्रत्येक मार्गणाके किसी न किसी भेदमें अवश्य गर्भित है; देवादिक, एकेन्द्रियादिक, स्थावरादिक, काययोगादिक, पुरुष वेदादिक, क्रोधादिक, मतिज्ञानादिक इत्यादि क्रमवर्तीपर्याय हैं क्योंकि ये क्रमसे होती हैं। सहवर्ती और क्रमवर्ती दोनोंही प्रकारकी पर्यायोंसे जीव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है किंतु वे धर्म विशेषही अविष्वक (अभिन्न) सम्बन्धसे जीव व्यपदेश (नाम) को प्राप्त होते हैं और इसही अपेक्षासे जब जीव कोई पदार्थ ही नहीं है तो नास्ति स्वरूप सिद्ध हुआ। वस्तुत्वकी अपेक्षासे जीव सत्स्वरूप है और तत् प्रतियोगी अवस्तुत्वकी अपेक्षासे असत्स्वरूप है, इन दोनोंकी युगपत् अभेद विवक्षासे अवक्तव्य स्वरुप है, तो नास्तिस्वरुप प्रथम अंश और अवक्तव्य स्वरुप द्वितीय अंश इन दोनोंको साथ अर्पण करनेसे जब

कथंचित् नास्ति और अवक्तव्यस्वरुप (स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च जीवः) है। यह भंग भी सकलादेशरूप है, क्योंकि अस्तित्वादिक शेष धर्मोंका समूह जीवसे अविनाभावी होनेके कारण उसहीमें गर्भित होनेसे स्यात् शब्दसे द्योतित है। अब आगे सातवें भंगका स्वरूप कहते हैं—

सातवां भंग (स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्च जीवः) चार स्वरूपसे तीन अंशरुप है अर्थात् अस्त्यंश एक स्वरुप, नास्त्यंश एक स्वरुप और अवक्तव्य अंश दो स्वरुप है। जीव किसी द्रव्यविशेषकी अपेक्षासे अस्तिस्वरुप है, किसी पर्याय विशेषकी अपेक्षासे नास्तिस्वरुप है इन दोनोंकी क्रमसे प्रधानताकी विवक्षासे समुच्चयरुप अस्तिनास्तिस्वरुप है किसी द्रव्यपर्याय विशेष और किसी द्रव्यपर्याय सामान्यकी युगपत् विवक्षासे अवक्तव्य-स्वरुप है, इन तीनो अंशोंको साथ कहनेकी इच्छासे जीव कथंचित् अस्ति, नास्ति, और अवक्तव्य स्वरुप (स्यादस्ति च नास्तिचाव-क्तव्यश्च जीवः) है, सो यह भी सकलादेश है क्योंकि समस्त द्रव्यार्थोंको द्रव्यत्वाभेद विवक्षासे एक द्रव्यार्थ मानकर तथा समस्त पर्यायार्थोंको पर्यायत्व अभेदविवक्षासे एक पर्यायार्थ मानकर विवक्षित समस्तरुप वस्तुका अभेदवृत्ति वा अभेदोपचारसे संग्रह किया है। इस प्रकार सकलादेशका कथन समाप्त हुआ। अब आगे विकलादेशका वरुप कहते हैं—

निरंशरुप व तुकी गुणोंके भेदसे अंश कल्पनाको विकलादेश कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि निज वरुपसे व तु अखंड है तथापि उस अखंड वस्तुमें भिन्न भिन्न लक्षणोंको लिये अनेक गुण पाये जाते हैं। जैसे कि, अग्नि यद्यपि अखंडरुप एक वस्तु है तथापि उसमें शोषकत्व, दाहकत्व, पाचकत्व आदि अनेक गुण भिन्न भिन्न

लक्षण सहित पाये जाते हैं, अथवा जैसे दूधिया भंगमें दूध, पानी, खांड, भंग, इलायची, काली मिरच, बदाम आदि अनेक पदार्थ हैं, उस दूधियाके भंगको पीकर पीनेवाला उसे अनेक स्वादात्मक एक पदार्थ निश्चय करके, इसमें दूध भी है, खांड भी है, इलायची भी है इत्यादि निरुपण करता है, उस ही प्रकार अनेक धर्मस्वरुप वस्तुको अखण्डरुप एक मानकर उसके अनेक कार्य-विशेषोंको देखकर अनेक धर्मविशेप वरुप निश्चय करनेको विकलादेश कहते हैं।

शंका—अखंड वस्तुके गुणसे भेद किस प्रकार हो जाते हैं ?

समाधान—देवदत्त और इन्द्रदत्त दोनों मित्र थे, देवदत्त धर्मात्मा और धनदत्त व्यसनी था, देवदत्तके उपदेशसे धनदत्त कुछ कालमें धर्मात्जा हो गया। तब देवदत्तने धनदत्तसे कहा कि, तू पहले व्यसनी था किंतु जिनधर्मके प्रभावसे अब धर्मात्मा है, इस दृष्टांतमें धनदत्तका आत्मा यद्यपि एक ही पदार्थ है तथापि व्यसनित्व और धर्मात्मत्व गुणकी अपेक्षासे अनेक स्वरुप कहा जाता है। गुणोंके समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है, गुण अनेक हैं और परस्पर भिन्न स्वरुप हैं, इसलिये उन अनेक गुणोंके समुदायरूप अखण्ड एक द्रव्यको पूर्वकथित कालादिककी भेद विवक्षासे अनेक स्वरुप निश्चय करनेको विकलादेश कहते हैं।

सकलादेशकी तरह विकलादेशमें भी सप्तभंगी है। उसका खुलासा इस प्रकार है कि, गुणीको भेदरुप करनेवाले अंशोंमें क्रमसे, युगपत्पनेसे तथा क्रम और युगपत्पनेसे विवक्षाके वशसे विकलादेश होते हैं। अर्थात् प्रथम और द्वितीय भंगमें असंयुक्त क्रम है, तीसरे भंगमें युगपत्पना है, चतुर्थमें संयुक्त क्रम है, पांचवें और छटे भंगमें असंयुक्तक्रम और यौगपद्य है, और सातवेंमें संयुक्तक्रम और यौगपद्य हैं।

भावार्थ—सामान्यादिक द्रव्यार्थादेशोंमेंसे किसी एक धर्मके उपलभ्यमान (प्राप्त) होनेसे "स्यादस्त्येवात्मा" यह पहला विकलादेश है। यहां दूसरे धर्मोंका आत्मामें सद्भाव होनेपर भी पूर्वोक्त कालादिककी भेद विवक्षासे शब्द द्वारा निरूपण भी नहीं है और निरास (खण्डन) भी नहीं है इसलिये न उनकी विधि है और न प्रतिषेध है। इस ही प्रकार दूसरे भंगोंमें भी विवक्षित अंशमात्रका निरूपण और शेष धर्मोंकी उपेक्षा (उदासीनता) होनेसे विकलादेश कल्पना लगाना। इस विकलादेशमें भी विशेष्यविशेषणभाव द्योतनके लिये विशेषणके साथ अवधारण (नियम) वाचक एवं शब्दका प्रयोग किया गया है। इस एव शब्दके प्रयोगसे अवधारण होनेसे अस्तित्व भिन्न अन्य धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग आता है इस ही कारण यहां भी स्यात् शब्दका प्रयोग किया है।

भावार्थ—स्यात् शब्दका प्रयोग करनेसे यह द्योतन किया है कि, आत्मामें जैसे अस्तित्वधर्म है उस ही प्रकार नास्तित्वादिक अनेक धर्म हैं। सकलादेशमें उच्चारित धर्मके द्वारा शेष समस्त धर्मोंका संग्रह है और विकलादेशमें केवल शब्द द्वारा उच्चारित धर्मका ही ग्रहण है, शेष धर्मोंकी न विधि है और न निषेध है। इस प्रकार आदेशके वशसे सप्तभंग होते हैं क्योंकि अन्य भंगोंकी प्रवृत्तिके निमित्तका अभाव है, अर्थात् भंग सात ही हैं हीनाधिक नहीं हैं।

इसका खुलासा इस प्रकार है कि, वस्तुमें किसी एक धर्म तथा उसके प्रतियोगी धर्मकी अपेक्षासे सात भंग होते हैं, अर्थात् वस्तु किसी एक धर्मकी अपेक्षासे कथंचित् अस्तिस्वरुप है, उसके प्रतियोगी धर्मकी अपेक्षासे नास्तिस्वरुप है और दोनोंकी युगपत् विवक्षासे अवक्तव्य स्वरुप है, इस प्रकार स्वतुमें किसी एक धर्म और उसके प्रतियोगीकी अपेक्षासे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन धर्म होते हैं। इन तीन धर्मोंके संयुक्त और

असंयुक्त सात ही भंग होते हैं, न हीन होते हैं और न अधिक होते हैं।

भावार्थ—जैसे नौन, मिरच और खटाई इन तीन पदार्थों के संयुक्त और असंयुक्त सात ही स्वाद हो सकते हैं हीनाधिक नहीं हो सकते अर्थात् एक नौनका स्वाद, दूसरा मिरचका वाद और तीसरा खटाईका स्वाद, इस प्रकार तीन तो असंयुक्त स्वाद हैं और एक नौन और मिरचका, दूसरा नौन और खटाईका, तीसरा मिरच और खटाईका, और चौथा नौन मिरच और खटाईका, इस प्रकार चार संयुक्त स्वाद हैं, सब मिलकर सात ही स्वाद होते हैं हीनाधिक नहीं होते। इस ही प्रकार जीवमें भी अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन तो असंयुक्त भंग हैं और अस्तिनास्ति, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्तिनास्ति अवक्तव्य ये चार संयुक्त भंग हैं, सब मिलकर सात ही भंग होते हैं, हीनाधिक नहीं होते, क्योंकि हीनाधिक भंगकी प्रवृत्तिके निमित्तका अभाव है। यह मार्ग द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंके आश्रित है।

इन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके ही संग्रहादिक भेद हैं। इन संग्रहादिकमेंसे संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये तीन नय तो अर्थनय हैं, और शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये तीन शब्दनय हैं। समस्त वस्तुस्वरूपोंको सत्तामें गर्भित करके संग्रह करनेसे संग्रहनयका विषय सत्ता है। व्यवहारनयका विषय असत्ता है क्योंकि यह नय भिन्न भिन्न सत्ताका संग्रह न करके अन्यकी अपेक्षासे असत्ताकी प्रतीति उत्पन्न करती है। ऋजुसूत्रनय वर्तमानपर्यायको विषय करती है, क्योंकि अतीतका नाश हो चुका और अनागत अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है इसलिए उनके व्यवहारका अभाव है, इस प्रकार ये तीन अर्थनय हैं।

इन नयोंकी अपेक्षासे संयुक्त और असंयुक्त सप्तभंग बनते हैं उनका खुलासा इस प्रकार है कि, संग्रहनयकी अपेक्षासे प्रथमभंग है १। व्यवहारनयकी अपेक्षासे दूसरा भंग है २। युगपत् संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे तीसरा भंग है ३। क्रमसे संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे चतुर्थ भंग है ४। संग्रह और युगपत् संग्रह व्यवहारनयकी अपेक्षासे पंचमभंग है ५। व्यवहार और युगपत् संग्रह व्यवहारनयकी अपेक्षासे छठा भंग है ६। क्रमसे संग्रह व्यवहार और युगपत् संग्रह व्यवहारनयकी अपेक्षासे सातवां भंग है ७।

इस ही प्रकार ऋजुसूत्रमें भी लगा लेना। पर्यायार्थिकनयके चार भेद हैं उनमें ऋजुसूत्रनयका विषय अर्थपर्याय है और शब्द समभिरूढ और एवंभूत इन तीन शब्दनयोंका विषय व्यंजनपर्याय है, सो ये शब्दनय अभेद कथन और भेदकथनकी अपेक्षासे शब्दमें दो प्रकारकी कल्पना करती है, जैसे शब्दनयमें पर्यायवाचक अनेक शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी अभेदविवक्षासे उस एक ही पदार्थका ग्रहण होता है तथा समभिरूढनयमें सास्नादिमान पदार्थ चाहे गतिरूप परिणमै चाहे अन्य क्रियारूप परिणमै परन्तु अभेदविवक्षासे उसमें गो शब्दकी ही प्रवृत्ति होती है इसलिये शब्द और समभिरूढ इन दोनों नयोंसे अभेद प्रतिपादन होता है, और एवंभूतनयमें जिस क्रियाका वाचक वह शब्द है उस ही क्रियारूप जब वह पदार्थ परिणमै है उस समय वह पदार्थ उस शब्दका वाच्य है, इसलिये एवंभूतनयमें भेद कथन है, अथवा दूसरी तरहसे दो प्रकारकी कल्पना है।

अर्थात् एक पदार्थमें अनेक शब्दोंकी प्रवृत्ति है १ तथा प्रत्येक पदार्थवाचक प्रत्येक शब्द है २, जैसे शब्दनयमें एक पदार्थके वाचक अनेक शब्द हैं और समभिरूढनयमें पदार्थ-परिणतिके निमित्तके विना एक पदार्थका वाचक एक शब्द है

तथा एवंभूतनयमें पदार्थकी वर्तमान परिणतिके निमित्तसे एक पदार्थका वाचक एक शब्द है।

शंका—एक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्वादिक परस्पर विरुद्ध धर्म होनेसे विरोध दोष आता है।

समाधान—एक वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्वादिक धर्म अपेक्षासे कहे हैं इसलिये इनमें विरोध नहीं है और न विरोधका लक्षण यहां घटित होता है उसका खुलासा इस प्रकार है कि, विरोधके तीन भेद हैं—१ वध्यघातक, २ सहानवस्थान, और ३ प्रतिवंध्य प्रतिबंधक, सो सर्प और न्यौलेमें तथा अग्नि और जलमें वध्य-घातकरूप विरोध है, यह वध्यघातक विरोध एक कालमें विद्यमान दो पदार्थोंके संयोगसे होता है। संयोगके विना जल,, अग्निको बुझा नहीं सकता। यदि संयोगके विना भी जल अग्निको बुझा देगा, तो संसारमें अग्निके अभावका प्रसंग आवेगा।

इसलिये संयोग होनेके पश्चात् बलवान् निर्बलका घात करता है। अस्तित्व नास्तिकादिक विरुद्ध धर्मकी एक समय मात्र भी आप एक पदार्थमें वृत्ति नहीं मानते, तो इन धर्मोंमें वध्यघातक विरोधकी कल्पना किस प्रकार हो सकती है? और जो इन धर्मोंकी एक पदार्थमें वृत्ति मानोगे, तो ये दोनों ही धर्म समान बलवाले हैं, इसलिये इन दोनोंमेंसे किसी एककी प्रबलताके अभावसे वध्यघातक विरोधका अभाव है।

इसलिये लक्षणके अभावसे वध्यघातक विरोध नहीं हो सकता। तथा सहावन स्थानविरोध भी नहीं है, क्योंकि उसका भी लक्षण यहाँ घटित नहीं होता है। सहावन स्थान विरोध भिन्न कालवर्ती दो पदार्थोंमें होता है।

जैसे आमके फलमें पहले हरापन था, पीछे उत्पन्न होता हुआ पीलापन हरेपनका निवारण करता है। सो जीवके अस्तित्व

नास्तित्व धर्म पूर्वोत्तर कालवर्ती नहीं है। यदि अस्तित्व नास्तित्वका भिन्न काल मानोगे, तो जीवके अस्तित्वके कालमें नास्तित्वका अभाव होनेसे जीव, जीव नहीं ठहरेगा; किंतु सत्ता मात्रका प्रसंग आवेगा। (इसका खुलासा पहले लिखा जा चुका है) तथा नास्तिकके कालमें अस्तित्वका अभाव होनेसे तदाश्रित वन्ध मोक्षके व्यवहारके विरोधका प्रसंग आवेगा, तथा सर्वथा असद्रूप माननेसे स्वरूप लाभके अभावका प्रसंग आवेगा और सर्वथा सत् माननेसे जिस अपेक्षासे असत्की प्राप्ति है, वह भी असंगत ठहरेगी। इसलिये इन धर्मोंमें सहावस्थान विरोधका संभव नहीं हो सकता। तथा जीवादिकमें प्रतिवन्ध्य प्रतिवन्धक विरोध भी घटित नहीं हो सकता।

प्रतिवन्ध्य प्रतिवन्धक विरोधका भाव ऐसा है कि आमके वृक्षका और आमके फलका एक डाली द्वारा संयोग है। जवतक यह संयोग रहता है, तव तक आमका फल वृक्षसे गिरता नहीं किंतु जव इस संयोगका अभाव हो जाता है, तव गुरुताके (भारीपनके) निमित्तसे आमका फल पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इस प्रकार डालीका संयोग गुरुताके पतन कार्यका प्रतिवन्धक है, सो जीवका अस्तित्वधर्म, नास्तित्व धर्मके प्रयोजनका इस प्रकारसे प्रतिवन्धक नहीं है। क्योंकि जिस समय जीवमें अस्तित्व धर्म है, उस ही समय परद्रव्यादि रूपसे नास्तित्व वुद्धिकी उत्पत्ति दीखती है, तथा जिस समय परद्रव्यादिकी अपेक्षा जीवमें नास्तित्व धर्म है, उस ही समय स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे अस्तित्व वुद्धि दीखती है। इस ही कारण यह विरोध दोष वचन मात्र है। इस प्रकार अर्पणाके भेदसे जीव अविरुद्ध अनेकान्तात्म है; ऐसा निश्चय हुआ।

अव आगे एकान्तवादमें दोष दिखाते हैं:—१ वहुतसे मतावलम्वी पदार्थ स्वरूप सर्वथा भाव स्वरूप मानते हैं। इस भाव

एकान्तमें किसी भी प्रकारके अभावका अवलम्बन नहीं है, इसलिये चार प्रकारके अभावका अभाव होनेसे इसमें चार दोष आते हैं।

भावार्थ—कार्यकी उत्पत्तिसे पहले जो कार्यका अभाव है, उसको प्रागभाव कहते हैं।

जैसे घटकी उत्पत्तिसें पहले मृत्पिंडमें घटका प्रागभाव है, सो इस प्रागभावके न माननेसे घटरूपकार्य द्रव्यमें अनादिताका प्रसंग आवेगा। कार्यका नाश होनेके पीछे जो अभाव होता है, उसको प्रध्वंसाभाव कहते हैं।

जैसे घट विनाशके पीछे कपालादिकमें घटका प्रध्वंसाभाव है। सो इस प्रध्वंसाभावके न माननेसे घटरूप कार्य द्रव्यमें अनंतताका प्रसंग आवेगा। एक द्रव्यकी एक पर्यायमें उस ही द्रव्यकी किसी दूसरी पर्यायके अभावको अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घटका पटमें, तथा पटका घटमें अन्योन्याभाव है. सो इस अन्योन्याभावके न माननेसे एक द्रव्यकी समस्त पर्यायमें एकताका प्रसंग आवेगा। एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे जीवमें पुद्गलका अभाव है। सो इस अत्यन्ताभावके न माननेसे समस्त द्रव्योंमें एकताका प्रसंग आवेगा।

२. कितने ही महाशय अभावएकान्तको मानते हैं। इस अभावएकान्तमें किसी भी प्रकार भावका अवलम्बन नहीं है। इस लिये उनके मतमें प्रमाणके भी अभावका प्रसंग आया, और प्रमाणका अभाव होनेपर परपक्षका खण्डन और स्वपक्षका मंडन ही नहीं हो सकता। इसलिये अभावएकान्त सिद्ध नहीं हो सकता। भाव और अभाव दोनों एकान्तपक्षोंके दूषित होनेसे कोई महाशय भाव और अभाव दोनों पक्षोंका अवलम्बन करते हैं। परन्तु ऐसा माननेसे विरोधदोष सामने खड़ा है। इसलिये कोई महाशय कहते हैं कि, वस्तुका स्वरूप अवाच्य है। परन्तु यह अवाच्यएकांतपक्ष भी बन नहीं सकता। क्योंकि सर्वथा

अवाच्य माननेसे 'पदार्थका स्वरूप अवाच्य है" ऐसा वचन ही नहीं कह सकते। इस प्रकार भाव, अभाव, उभय और अवाच्य ये चारों ही एकांत सदोष हैं, इसलिये पूर्वदर्शित अपेक्षासे वस्तु कथंचित् भाव (अस्ति) स्वरूप है, कथंचित् अभाव (नास्ति) स्वरूप है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् भावाभावस्वरूप है, कथंचित् भावावक्तव्य है, कथंचित् अभावावक्तव्य है और कथंचित् भावाभावावक्तव्य है। सो ये सातो ही भंग, नयके योगसे हैं, सर्वथा नहीं है।

३. अद्वैतएकांत अर्थात् अभेदएकांत पक्षमें, कर्ताकर्मादि कारकोंमें, दहनपचनादि क्रियाओंमें, पत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंमें और घटपटादिक प्रमेयोंमें जो प्रत्यक्ष भेद दिखता है, उसके अभावका प्रसंग आवेगा। तथा पुण्य पाप, सुख दुःख, यह लोक परलोक, विद्या अविद्या और बन्ध और मोक्ष इत्यादि द्वैत (भेद) रूप जो पदार्थ दीखते हैं, उन सबके अभावका प्रसंग आवेगा। सिवाय इसके अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे करते हो, या विना हेतु ही सिद्ध मानते हो? यदि हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि करते हो, तो हेतु और साध्यका द्वैत हो गया। और जो हेतुके विना ही वचनमात्रसे अद्वैतकी सिद्धि मानते हो तो वचनमात्रसे द्वैतकी सिद्धि क्यों न होगी? अथवा जैसे हेतुके विना अहेतु नहीं हो सकता।

भावार्थ—अग्निकी सिद्धिके वास्ते धूमहेतु है और जलादिक अहेतु हैं। सो जो धूमहेतु ही न होय, तो जलादिक अहेतु नहीं बन सकते। क्योंकि निषेधयोग्य पदार्थके विना उसका निषेध नहीं हो सकता। इसलिये द्वैतके विना अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सक्ती। जैसे किसीने कहा कि, यह घट नहीं है। इस वाक्यसे ही सिद्ध होता है कि, घट कोई पदार्थ है, जो कि यहां नहीं है। इस ही प्रकार द्वैतके विना अद्वैत कदापि नहीं हो सकता।

४. अद्वैतएकांतपक्षमें अनेक दोष होनेसे कितने ही महाशय पृथक्त्वएकांत (भेदएकांत) पक्षका अवलम्बन करते हैं। उनके मतमें "पृथक्त्व नामक एक गुण है, जो समस्तपदार्थोंमें रहता है। और इस ही गुणके निमित्तसे समस्त पदार्थोंका भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है। यदि यह पृथक्त्व गुण न होय, तो समस्त पदार्थ एकरूप हो जाँय" ऐसा माना है; सो इस एकांत पक्षमें भी अनेक दोष आते हैं। उनका खुलासा इस प्रकार है कि, घट पदार्थमें घटत्व नामक एक सामान्य धर्म है। यह धर्म संसारभरमें जितने घट हैं, उन सबमें रहता है। यदि यह सामान्य धर्म समस्त घटोंमें नहीं रहता, तो उन समस्त घटोंमें "यह घट है" "यह घट है" ऐसा ज्ञान नहीं होता। इस लिये घटत्वसामान्यकी अपेक्षासे समस्त घट एक हैं।

इस ही प्रकार पटत्व सामान्यकी अपेक्षासे समस्त पट एक हैं, तथा जीवत्व सामान्यकी अपेक्षासे समस्त जीव एक हैं। और इस ही प्रकार पृथक्त्वगुण भी समस्त पदार्थोंमें रहनेवाला है, अन्यथा समस्त पदार्थोंमें 'यह भिन्न है' 'यह भिन्न है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये पृथक्त्व सामान्यकी अपेक्षासे समस्त पदार्थ एक हैं। यदि पृथक्त्व सामान्यकी अपेक्षासे भी सब पदार्थोंको एक नहीं मानोगे, भिन्न भिन्न मानोगे तो, पृथक्त्व यह उनका गुण ही नहीं हो सकता। क्योंकि यह गुण अनेक पदार्थोंमें रहनेवाला है। परंतु पृथक्त्व गुणकी अपेक्षा सबको भिन्न भिन्न माननेवालेके पृथक्त्व गुण अनेक पदार्थस्थ नहीं हो सकता, किंतु भिन्न भिन्न पदार्थका भिन्न भिन्न पृथक्त्व गुण ठहरेगा और ऐसा होने पर उस गुणके अनेकताका प्रसंग आवेगा। किंतु सामान्य धर्म एक होकर अनेकमें रहनेवाला है, इसलिये पृथक्त्व सामान्यकी अपेक्षासे समस्त पदार्थ एक हैं। अथवा भेद एकांत पक्षमें किसी भी

प्रकारसे एकता न होनेसे सन्तान (अपने सामान्य धर्मको विना छोड़े उत्तरोत्तर क्षणमें होनेवाले परिणामको सन्तान कहते हैं, जैसे गोरसके दूध, दही, छांछ, घी सन्तान हैं।) समुदाय (युगपत् उत्पत्ति विनाशवाले रूपरसादिक सहभावी धर्मोंके नियमसे एकत्र अवस्थानको समुदाय कहते हैं). घटपटादि पदार्थके पुद्गलत्व आदिकी अपेक्षासे साधर्म्य (सदृशता) और प्रेत्यभाव (एक प्राणीका मरणके पश्चात् दूसरी गतिमें उत्पाद) ये एक भी नहीं बन सकते ।

अथवा यदि सत्स्वरूपसे भी ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न है, तो दोनोंके अभावका प्रसंग आवेगा। क्योंकि ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञानके होने पर ही ज्ञेय हो सकता है, तथा ज्ञेयके होने पर ही ज्ञान हो सकता है। क्योंकि ज्ञान ज्ञेयका परिच्छेदक (भिन्न करनेवाला) है। इस प्रकार भेदएकांतमें अनेक दोष आते हैं। (तथा उभयएकांत और अवाच्य एकांतमें त्रिविरोधादिक दोष पूर्ववत् लगा लेना और इस ही प्रकार आगे भी घटित कर लेना।) इसलिये वस्तुका स्वरूप कथंचित् अभेदरूप है, कथंचित् भेदरूप है। अपेक्षाके विना भेद तथा एक भी सिद्ध नहीं हो स ते।

भावार्थ—सत्तासामान्यकी अपेक्षा होनेपर अभेद विवक्षासे समस्त पदार्थ अभेद स्वरूप हैं, तथा द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा होनेपर भेद विवक्षा होनेसे समस्त पदार्थ भेदस्वरूप हैं।

इस प्रकार नित्यएकांत अनित्यएकांत आदिक अनेक एकांत पक्ष हैं जिनमें अनेक दोष आते हैं। इसका सविस्तर कथन अष्टसहस्रीमें किया है, वहांसे जानना चाहिये।

इस प्रकार जैनसिद्धांतदर्पणग्रंथमें द्रव्यसामान्यनिरूपणनामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अधिकार

(अजीव द्रव्य निरूपण)

पहले अधिकारमें द्रव्य सामान्यका निरूपण हो चुका, अब द्रव्य विशेषका निरूपण करनेका समय है। परंतु द्रव्य विशेपका स्वरूप अलौकिक गणितके जाने विना अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता। क्योंकि द्रव्योंका छोटापन और बड़ापन, तथा गुणोंकी मंदता और तीव्रता और कालका परिमाण आदिकका निरूपण पूर्वाचार्योंने अलौकिक गणितके द्वारा ही किया है। इसलिये द्रव्यविशेषका निरूपण करनेसे पहले अलौकिक गणितका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है।

अलौकिकगणितके मुख्य दो भेद हैं, एक संख्यमान और दूसरा उपमामान। संख्यामानके मूल तीन भेद हैं अर्थात् १ संख्यात, २ असंख्यात और ३ अनन्त। असंख्यातके तीन भेद हैं अर्थात् १ परीतासंख्यात, २ युक्तासंख्यात और ३ असंख्याता-संख्यात। अनन्तके भी तीन भेद हैं अर्थात् १ परीतानन्त, २ युक्तानन्त और ३ अनन्तानन्त। संख्यातका एक भेद और असंख्यात और अनन्तके तीन तीन भेद, सब मिलकर संख्या-मानके सात भेद हुए। इन सातोंमेंसे प्रत्येकके जघन्य (सबसे छोटा), मध्यम (बीचके), उत्कृष्ट (सबसे बड़ा) की अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं, इस प्रकार संख्यामानके २१ भेद हुये।

एकमें एकका भाग देनेसे अथवा एकको एकसे गुणाकार करनेसे कुछ भी हानि वृद्धि नहीं होती है। इसलिये संख्याका प्रारम्भ दोसे ग्रहण किया है। और एकको गणना शब्दका वाच्य माना है, इसलिये जघन्य संख्यातका प्रमाण दो है। तीन चार

पांच इत्यादि एक कम उत्कृष्ट संख्यात पर्यन्त मध्यम संख्यातके भेद हैं। एक कम जघन्य परीतासंख्यातको उत्कृष्ट संख्यात कहते हैं। अब आगे जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण कितना है, सो लिखते हैं—

अलौकिकगणितका स्वरूप लौकिकगणितसे कुछ विलक्षण है। लौकिकगणितसे स्थूल और स्वल्पपदार्थोंका परिमाण किया जाता है, किंतु अलौकिकगणितसे सूक्ष्म और अनंत पदार्थोंकी हीनाधिकताका बोध कराया जाता है। हमारे बहुतसे संकीर्ण हृदय भाई अलौकिकगणितका स्वरूप सुनकर चकित होते हैं। और कहते हैं कि, ऐसा गणित हो ही नहीं सकता, परन्तु उनके ऐसे कहनेसे कुछ उस गणितका अभाव नहीं हो जायगा। संसारमें एक दंतकथा प्रसिद्ध है कि, एक समय एक राजहंस एक कुएमें गया। कुएके मेंडकने राजहंसका स्वागत करके उच्चासन देकर प्रसंगवश पूछा कि, क्यों जी! आपका मान सरोवर कितना बड़ा है?

राजहंस—भाई! मानसरोवर बहुत बड़ा है।

मेंडक—(एक हाथ लम्बा करके) क्या इतना बड़ा है?

रा०—नहीं भाई! इससे बहुत बड़ा है।

मेंं०—(दोनों हाथ लम्बे करके) तो क्या इतना बड़ा है?

रा०—नहीं! नहीं!! इससे भी बहुत बडा है।

में०—(कुएके एक तटसे साम्हनेके दूसरे तटपर उछलकर) तो! क्या इससे भी बड़ा है?

रा०—हां! भाई! इससे भी बहुत बड़ा है।

में०—(झुंझला कर) बस! तुम बडे झूठे हो! इससे बड़ा हो ही नहीं सकता!

राजहंस मेंडकको मूर्ख समझकर चुप हो गया और उड़कर अपने स्थानको चला गया। इस प्रकार कुएके मेंडककी तरह जो

महाशय संकीर्णबुद्धिवाले हैं, उनकी समझमें अलौकिकगणितका स्वरूप प्रवेश नहीं कर सकता। किंतु जिनकी बुद्धि गौरवयुक्त है, वे अच्छी तरह समझ सकते हैं। जघन्य परीतासंख्यातका स्वरूप समझनेके लिये जो उपाय लिखा जाता है, वह किसीने किया नहीं था, किंतु वडे गणितका परिमाण समझनेके लिये एक कल्पित उपाय मात्र है।

कल्पना कीजिये कि अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नामके चार गोल कुण्ड हैं। जिनमेंसे प्रत्येकका व्यास (गोल पदार्थकी एक तटसे दूसरे तट तककी चौड़ाई) एक लक्ष योजन (योजनका प्रमाण यहाँ दो हजार कोसका समझना) और गहराईका प्रमाण एकहजार योजन है। इनमेंसे अनवस्था कुण्डको गोल सरसोंसे शिखाऊ (पृथ्वीपर अन्नकी राशिकी तरह) भरना। गणितशास्त्रके अनुसार इस अनवस्था कुण्डमें १९९७११२९३८-४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६ ४/११ सरसों समाई। (अपूर्णाङ्कका ग्रहण नहीं करना)।

इस अनवस्था कुण्डके भरनेपर दूसरी एक सरसों अनवस्था कुण्डोंकी गिनती करनेके लिये शलाका कुण्डमें डालनी। मध्यलोक (इसका सविस्तर वर्णन आगे होगा)में असंख्यातद्वीप समुद्र हैं। जिनमें सबके बीचमें जम्बूद्वीप है। इसका व्यास एकलक्ष योजन है, जम्बूद्वीप गोल है, और उसके चारों तरफ खाईकी तरह लवण-समुद्र है। जिसका फांट दो लक्ष योजनका है (यहां भी योजनका प्रमाण दो हजार कोस समझना।)

लवण समुद्रको चारों ओरसे घेरकर धातकीखंडद्वीप स्थित है, ओर धातकीखंडके चारों ओर कालोदधि समुद्र है। तथा इसही प्रकार द्वीपके आगे समुद्र और समुद्रके आगे द्वीपके क्रमसे असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं। द्वीपकी चौड़ाईसे समुद्रकी चौड़ाई दूनी और समुद्रकी चौड़ाईसे आगेके द्वीपकी चौड़ाई दूनी, इस ही

प्रकार अन्तपर्यन्त जानना। किसी द्वीप वा समुद्रकी परिधिके (गोलाईके) एक तटसे दूसरे तटतककी चौड़ाईको सूची कहते हैं। जैसे लवण समुद्रकी सूची पांच लाख योजन और धातकी-खण्ड द्वीपकी तेरह लाख योजन है।

अब अनवस्था कुण्डमेंसे समस्त सरसोंको निकालकर एक द्वीपमें एक समुद्रमें अनुक्रमसे डालते चलिये। जिस द्वीप वा समुद्रमें सब सरसों पूर्ण होकर अन्तकी सरसों डालो; उस ही द्वीप वा समुद्रकी सूचीके समान सूचीवाला और १००० योजन गहराईवाला दूसरा अनवस्था कुण्ड बनाईये, और उसको भी सरसोंसे शिखाऊ भरकर एक दूसरी सरसों शलाका कुण्डमें डालिये। इस दूसरे अनवस्था कुण्डकी सरसोंको भी निकालकर जिस द्वीप वा समुद्रमें पहले समाप्ति हुई थी, उसके आगे एक सरसों द्वीपमें और एक समुद्रमें डालते चलिये।

जहाँ ये सरसों भी समाप्त हो जांय वहां उस ही द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण चौड़ा और १००० योजन गहरा तीसरा अनवस्था कुण्ड बनाकर उसे सरसोंसे शिखाऊ भरिये और शलाका कुण्डमें सरसों डालिये।

इस तीसरे कुन्डकी भी सरसों निकालकर आगेके द्वीप समुद्रोंमें एक एक सरसों डालते डालते जब सब सरसों समाप्त हो जाय, तब पूर्वोक्तानुसार चौथा अनवस्था कुण्ड भर कर चौथी सरसों शलाका कुण्डमें डालिये। इस ही प्रकार एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब शलाका कुण्ड भी शिखाऊ भर जाय, तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये। इस ही प्रकार एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब दूसरी वार भी शलाका कुण्ड भर जाय, तो दूसरी सरसों

प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये। एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब प्रतिशलाका कुण्ड भी भर जाय, तब एक सरसों महाशलाका कुण्डमें डालिये।

जिस क्रमसे एकबार प्रतिशलाका कुण्ड भरा उस ही क्रमसे दूसरी सरसों महाशलाका कुण्डमें डालिये। इस ही प्रकार एक एक प्रतिशलाका कुण्डकी एक एक सरसों महाशलाका कुण्डमें डालते डालते जब महाशलाका कुण्ड भी भर जाय, उस समय सबसे बड़े अंतके अनवस्था कुण्डमें जितनी सरसों समाई, उतना ही जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण है।

संख्यामानके मूलभेद सात कहे थे, इन सातोंके जघन्य मध्यम उत्कृष्टकी अपेक्षासे २१ भेद हैं। आगेके मूल भेदके जघन्य भेदमेंसे एक घटानेसे पिछले मूलभेदका उत्कृष्ट भेद होता है। जैसे जघन्य परीतासंख्यातमेंसे एक घटानेसे उत्कृष्टसंख्यात तथा जघन्ययुक्तासंख्यातमेंसे एक घटानेसे उत्कृष्ट परीतासंख्यात होता है। इस ही प्रकार अन्यत्र भी जानना। जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंके वीचके सब भेद मध्यम भेद कहलाते हैं। इस प्रकार मध्यम और उत्कृष्टके स्वरूप जघन्यके स्वरूप जाननेसे ही मालूम हो सकते हैं। इसलिये अब आगे जघन्य भेदोंका ही स्वरूप लिखा जाता है। जघनसंख्यात और जघन्य परीतासंख्यातका स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है, अब आगे जघन्ययुक्तासंख्यातका प्रमाण लिखते हैं।

जघन्यपरीतासंख्यात प्रमाण दो राशि लिखना। एक विरलन राशि और दूसरी देय राशि। विरलन राशिका विरलन करना, अर्थात् विरलन राशिका जितना प्रमाण है, उतने एक लिखना, और प्रत्येक एकके ऊपर एक एक देयराशि रखकर, समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणन करनेसे जो गुणन फल हो, उतना ही जघन्ययुक्तसंख्यातका प्रमाण है।

भावार्थ—यदि जघन्यपरीतासंख्यातका प्रमाण चार ४ माना जाय, तो चारका विरलन कर १ १ १ १ प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि चार चार रखकर $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ चारों चौकोंका परस्पर गुणन करनेसे गुणनफल २५६ जघन्य युक्तासंख्यातका प्रमाण होगा। इस ही जघन्य युक्तासंख्यातको आवली भी कहते हैं। क्योंकि एक आवलीमें जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समय होते हैं। जघन्य युक्तासंख्यातके वर्ग (एक राशिको उसहीसे गुणाकार करनेसे जो गुणनफल होता है, उसको वर्ग कहते हैं। जैसे पांचका वर्ग पच्चीस है।) को जघन्य असंख्यातासंख्यात कहते हैं। अब आगे जघन्य परीतानंतका प्रमाण कहते हैं—

जघन्य असंख्यातासंख्यात प्रमाण तीन राशि लिखनी, अर्थात् १ विरलन, २ देय, ३ शलाका। विरलन राशिका विरलन कर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणाकार करना, और शलाका राशिमेंसे एक घटाना। इस पाये हुए गुणनफल प्रमाण एक विरलन और एक देय इस प्रकार दो राशि करना। विरलन राशिका विरलन कर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणाकार करना और शलाका राशिमेंसे एक और घटाना। इस दूसरी वार पाये हुये गुणनफल प्रमाण पुनः विरलन और देय राशि करना और पूर्वोक्तानुसार देय राशियोंका परस्पर गुणाकार करना और शलाका राशिमेंसे एक और घटना।

इस ही अनुक्रमसे नवीन नवीन गुणनफलप्रमाण विरलन और देयके क्रमसे एक एक वार देय राशियोंका गुणाकार होनेपर शलाका राशिमेंसे एक एक घटाते घटाते जब शलाका राशि समाप्त हो जाय, उस समय जो अंतिम गुणनफलरूप महाराशि होय, उस प्रमाण पुनः विरलन, देय, और शलाका ये तीन राशि

लिखनी। विरलन राशिका विरलनकर, प्रत्येक एकके ऊपर देय राशि रख, देय राशिका परस्पर गुणाकार करते करते पूर्वोक्त क्रमानुसार एक वार देय राशियोंका गुणाकार होनेपर शलाका राशिमेंसे एक एक घटाते घटाते जब यह द्वितीय वार स्थापन की हुई शलाकाराशि भी समाप्त हो जाय, उस समय इस अंतकी गुणनफलरूप महाराशि प्रमाण पुनः विरलन, देय, और शलाका ये तीन राशि लिखनी। पूर्वोक्त क्रमानुसार जब यह तीसरीवार स्थापन हुई शलाकाराशि भी समाप्त हो जाय, उस समय यह अंतिम गुणफलस्वरूप जो महाराशि हुई, वह असंख्याता-संख्यातका एक मध्यम भेद है।

कथित क्रमानुसार तीनवार तीन तीन राशियोंके गुणनविधानके शलाकात्रयनिष्ठापन कहते हैं। आगे भी जहां 'शलाकात्रयनिष्ठापन' ऐसा पद आवे, वहां ऐसा ही विधान समझ लेना। इस महा-राशिमें लोक प्रमाण (लोकका प्रमाण उपमा मानके कथनमें किया जायगा) १. धर्म द्रव्यके प्रदेश, २. लोक प्रमाण अधर्मद्रव्यके प्रदेश, ३. लोक प्रमाण एक जीवके प्रदेश, ४. लोकप्रमाण लोका-काशके प्रदेश, ५. लोकसे असंख्यातगुणा अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्प-तिकायिक जीवोंका प्रमाण (इसका स्वरूप आगे कहेंगे), और ६. उससे भी असंख्याततलोकगुणा तथापि सामान्यतासे असंख्या-तलोकप्रमाण प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण, ये छह राशि मिलाना। इस योगफल प्रमाण विरलन, देय और शलाका, ये तीन राशि स्थापन कर पूर्वोक्तनुसार शलाकात्रय-निष्ठापन करना। इस प्रकार करनेसे जो महाराशि उत्पन्न हो, उसमें १. वीस कोड़ाकोड़ि सागर (इसका स्वरूप आगे कहेंगे) प्रमाण कल्पकालसे समय, २. असंख्यात लोकप्रमाण स्थिति बंधा-ध्यवसायस्थान (स्थिति बंधको कारणभूत आत्माके परिणाम), ३. इनसे भी असंख्यात लोक गुणे तथापि असंख्यात लोक प्रमाण

अनुभाग बंधाध्यवसायस्थान (अनुभाग बंधको कारणभूत आत्माके परिणाम) और ४. इनसे भी असंख्यातलोकगुणे तथापि असंख्यात लोक प्रमाण मनवचनकाय योगोंके अविभागप्रतिच्छेद ये चार राशि मिलाना। इस दूसरे योगफल प्रमाण विरलन देय शलाका ये तीन राशि स्थापन करना और पूर्वोक्त क्रमानुसार शलाकात्रयनिष्ठापन करना। इस प्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसको जघन्य परीतानन्त कहते हैं। जघन्य परीतानन्तका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर जघन्यपरीतानन्त रखकर सब जघन्यपरीतानन्तोंका परस्पर गुणाकार करनेसे जो राशि उत्पन्न हो, उसको जघन्ययुक्तानन्त कहते हैं। अभव्य जीवोंका प्रमाण जघन्ययुक्तानन्तके समान है। जघन्ययुक्तानन्तके वर्गको जघन्यअनन्तानन्त कहते हैं। अब आगे केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंके प्रमाणस्वरूप उत्कृष्ट अनन्तानन्तका स्वरूप लिखते हैं—

जघन्य अनंतानंत प्रमाण विरलन, देय और शलाका, ये तीन स्थापनकर शलाकात्रय निष्ठापन करना। इस प्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन करनेसे जो महाराशि उत्पन्न हो, वह अनंतानंतका एक मध्यम भेद है। [अनंतके धूसरे दो भेद हैं—एक सक्षय अनंत ओर दूसरा अक्षयअनंत। यहां तक जो संख्या हुई, वह सक्षय अनंत है इससे आगे अक्षय अनंतके भेद हैं। क्योंकि इस महाराशिमें आगे छह राशि अक्षय अनंत मिलाई जाती हैं। नवीन वृद्धि न होने पर भी खर्च करते करते जिस राशिका अंत नहीं आवे, उसको अक्षय अनंत कहते हैं (इसकी सिद्धि जीवद्रव्याधिकारमें करेंगे)] इस महाराशिमें १. जीवराशिके अनंतमें भाग सिद्धराशि, २. सिद्ध राशिसे अनंतगुणो निगोदराशि, ३. वनस्पति राशि, ४. जीव राशिसे अनंतगुणी पुद्गअ राशि, ५. पुद्गलसे भी अनंतगुणे तीन कालके समय, और ६. अलोका-

काशके प्रदेश ये छह राशि मिलानेसे जो योग फल हो, उस प्रमाण विरलन, देय, शलाका ये तीन राशि स्थापन कर शलाका त्रय निष्ठापन करना।

इस प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसमें धर्मद्रव्य और अधर्म-द्रव्यके अगुरुलघु गुणके अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद मिलाकर, योगफल प्रमाण विरलन, देय, शलाका स्थापन कर पुनः शलाकात्रय निष्ठापन करना। इस प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करनेसे मध्यम अनंतानंतका भेद रूप जो महाराशि हुई, उसको केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंके समूह-रूप राशिमेंसे घटाना और जो शेष बचे, उसमें पुनः वही महाराशि मिलानेसे केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रमाण स्वरूप उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है।

"उक्त महाराशिको केवलज्ञानमेंसे घटाकर पुनः मिलानेका अभिप्राय यह है कि केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रमाण उक्त महाराशिसे बहुत बड़ा है। उस महाराशिको किसी दूसरी राशिसे गुणाकार करने पर भी केवलज्ञानके प्रमाणसे बहुत कमती रहता है। इसलिये केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंके प्रमाणका महत्व दिखलानेके लिये उपर्युक्त विधान किया है। इस प्रकार संख्यामानके २१ भेदोंका कथन समाप्त हुआ।

अब आगे उपमामानके आठ भेदोंका स्वरूप लिखते हैं—

जो प्रमाण किसी पदार्थकी उपमा देकर कहा जाता है, उसे उपमामान कहते हैं। उपमामानके आठ भेद हैं—१ पल्य (यहां पल्य अर्थात् खासकी उपमा है), २. सागर (यहां लवणसमुद्रकी उपमा है), ३. सूच्यङ्गुल, ४. प्रतराङ्गुल, ५. घनांगुल, ६. जगच्छ्रेणी, ७. जगत्प्रतर और लोक। पल्यके तीन भेद हैं:—

१. व्यवहारपल्य, २. उद्धारपल्य और ३. अद्धापल्य। व्यवहारपल्यका स्वरूप पूर्वाचार्योंने इस प्रकार कहा है—

पुद्गलके सबसे छोटे खण्डको परमाणु कहते हैं। अनंतानंत परमाणुओंके स्कन्धको अवसन्नापसन्न कहते हैं। आठ अवसन्नासन्नका एक सन्नासन्न, आठ सन्नासन्नका एक तृटरेणु, आठ तृटरेणुका एक त्रसरेणु, ८ त्रसरेणु एक रथरेणु, ८ रथरेणुका एक उत्तम भोगभूमिवालोंका वालाग्र, ८ उत्तम भोगभूमिवालोंके वालाग्रका एक मध्यम भोगभूमिवालोंका वालाग्र, ८ मध्यम भोगभूमिवालोंके वालाग्रका एक जघन्य भोगभूमिवालोंका वालाग्र, ८ जघन्य भोगभूमिवालोंके वालाग्रका एक कर्मभूमिवालोंका वालाग्र, ८ कर्मभूमिवालोंके वालाग्रकी एक लाख, आठ लाखोंका एक सरसों. आठ सरसोंका एक जौ, और ८ जौका एक अंगुल होता है। इस अंगुलको उत्सेधांगुल कहते हैं।

चतुर्गतिके जीवोंके शरीर और देवोंके नगर और मंदिर आदिकका परिणाम इस ही अंगुलसे वर्णन किया जाता है। इस उत्सेधांगुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणांगुल (भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्तीका अंगुल) है। इस प्रमाणांगुलसे पर्वत, नदी, द्वीप, समुद्र इत्यादिकका प्रमाण कहा जाता है।

भरत ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंका अपने अपने कालमें जो अंगुल है, उसे आत्मांगुल कहते हैं। इससे झारी कलश धनुप ढोल हलमूशल, छत्र, चमर इत्यादिकका प्रमाण वर्णन किया जाता है। ६ अंगुलका एक पाद, २ पादका एक वालिस्त, २ वालिस्तका एक हाथ, ४ हाथका एक धनुष, २००० धनुषका एक कोश, और चार कोशका एक योजन होता है। प्रमाणांगुलसे निष्पन्न एक योजन प्रमाण गहरा और एक योजन प्रमाण व्यासवाला गोल गर्त्त (गढ़ा) बनाना। उस गर्त्तको उत्तम भोगभूमिवाले मेंढेके वालोंके अग्रभागोंसे भरना। गणित करनेसे उस गर्त्तके रोमोंकी संख्या ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२००००००००००००००००० हुई। इस गर्त्तके एक एक रोमको सौ सौ वर्ष पीछे

निकालते निकालते जितने कालमें वे सब रोम समाप्त हो जांय, उतने कालको व्यवहारपल्यका काल कहते हैं।

. उपर्युक्त रोम संख्याको सौ वर्षके समय समूहसे गुणा करनेसे व्यवहारपल्यके समयोंका प्रमाण होता है। (एक वर्षके दो अयन, एक अयनकी तीन ऋतु, एक ऋतुके दो मास, एक मासके तीस अहोरात्र, एक अहोरात्रके तीस मुहूर्त, एक मुहूर्तकी संख्यात आवली और एक आवलीके जघन्ययुक्तासंख्यात प्रमाण समय होते हैं)

व्यवहारपल्यके एक एक रोमखण्डके असंख्यातकोटि वर्षके समय समूह प्रमाण खण्ड करनेसे उद्धार पल्यके रोमखण्डोंका प्रमाण होता है। जितने उद्धारपल्यके रोमखण्ड हैं उतने ही उद्धारपल्यके समय जानने। एक कोटिके वर्गको कोड़ाकोड़ि कहते हैं। द्वीप समुद्रोंकी संख्या, उद्धारपल्यसे है।

अर्थात् उद्धारपल्यके समयोंको २५ कोड़ाकोड़िसे गुणा करनेसे जो गुणनफल होता है, उतने ही समस्त द्वीपसमुद्र हैं। उद्धार-पल्यके प्रत्येक रोमखण्डके असंख्यात वर्षके समय समूह प्रमाण खण्ड करनेसे अद्धापल्यके रोमखण्ड होते हैं। जितने अद्धापल्यके रोमखण्ड हैं, उतने ही अद्धापल्यके समय हैं। कर्मोंकी स्थिति अद्धापल्यसे वर्णन की गई है। पल्यको दस कोड़ाकोड़िसे गुणा करनेसे सागर होता है।

अर्थात् दस कोड़ाकोड़ि व्यवहारपल्यका एक व्यवहारसागर, दस कोड़ाकोड़ि उद्धारपल्यका एक उद्धारसागर और दस कोड़ाकोड़ि अद्धारपल्यका एक अद्धासागर होता है। किसी राशिको जितनी वार आधा आधा करनेसे एक शेष रहे, उसको अर्द्धच्छेद कहते हैं। जैसे चारको दो वार आधा आधा करनेसे एक होता है, इसलिये चारके अर्द्धच्छेद दो हैं। आठके तीन, सोलहके चार और वत्तीसके अर्द्धच्छेद पांच हैं। इस ही प्रकार सर्वत्र लगा

लेना । अद्धापल्यकी अर्द्धच्छेद राशिका विरलनकर प्रत्येक एकेके ऊपर अद्धापल्य रखकर समस्त अद्धापल्योंका परस्पर गुणाकार करनेसे जो राशि उत्पन्न होय, उसे सूच्यंगुल कहते हैं।

अर्थात् एक प्रमाणांगुल लम्बे और एक प्रदेश चोड़े ऊंचे आकाशमें इतने प्रदेश हैं। सूच्यंगुलके वर्गको प्रतरांगुल और घन (एक राशिको तीन वार परस्पर गुणा करनेसे जो गुणनफल होय, उसे घन कहते हैं। जैसे दोका घन आठ और तीनका घन सत्ताईस है) को घनांगुल कहते हैं। पल्यकी अर्द्धच्छेद राशिके असंख्यातवें भागका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर घनांगुल रख समस्त घनांगुलोंका परस्पर गुणाकार करनेसे जो गुणनफल होय, उसे जगच्छ्रेणी कहते हैं। जगच्छ्रेणीमें सातका भाग देनेसे जो भजनफल होय, उसे राजू कहते हैं।

अर्थात् सात राजूकी एक जगच्छ्रेणी होती है। जगच्छ्रेणीके वर्गको जगत्प्रतर और जगच्छ्रेणीके घनको लोक कहते हैं। यह तीन लोकके आकाश प्रदेशोंकी संख्या है। इस प्रकार उपमामानका कथन समाप्त हुआ। इन मानके भेदोंसे द्रव्यक्षेत्रकाल और भावका परिणाम किया जाता है।

भावार्थ—जहां द्रव्यका परिणाम कहा जाय, वहां उतने जुदे जुदे पदार्थ जानना। जहां क्षेत्रका परिणाम कहा जाय, वहां उतने प्रदेश जानने। जहां कालका परिणाम कहा जाय, वहां उतने समय जानने। और जहां भावका परिणाम कहा जाय, वहां उतने अविभागप्रतिच्छेद जानने। इस प्रकार अलौकिक गणितका संक्षेप कथन समाप्त हुआ। अब आगे अजीवद्रव्यका स्वरूप लिखते हैं—

द्रव्यके मूल भेद दो हैं, एक जीव दूसरा अजीव। जो चेतना गुणविशिष्ट होय, उसको जीव कहते हैं। और जो चेतना

गुणरहित अचेतन अर्थात् जड़ होय, उसको अजीव कहते हैं। यद्यपि पूर्वाचार्योंने द्रव्यका विशेष निरूपण करते समय पहले जीव द्रव्यका वर्णन किया है और पीछे अजीव द्रव्यका वर्णन किया है, क्योंकि समस्त द्रव्योंमें जीव ही प्रधान है, परन्तु इस ग्रंथकी प्रारंभीय भूमिकामें हम ऐसी प्रतिज्ञा कर आये हैं कि, यह ग्रंथ ऐसे क्रमसे लिखा जायगा कि, जिससे वाचकवृन्द गुरुकी सहायताके विना स्वतः समझ सकें।

इसलिये यदि जीव द्रव्यका कथन पहले किया जाता, तो जीवके निवासस्थान लोकाकाश, तथा जीवकी अशुद्धताके कारण-पुद्गल द्रव्यका स्वरूप समझे विना जीव द्रव्यका कथन अच्छी तरह समझमें नहीं आता। सिवाय इसके जीव द्रव्यके कथनमें बहुत कुछ वक्तव्य हैं और अजीव द्रव्यका कथन जीव द्रव्यकी अपेक्षा बहुत कम है। इसलिये पहले अजीव द्रव्यका कथन किया जाता है।

उस अचेतनत्व लक्षणविशिष्ट अजीवके पांच भेद हैं—१. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश और ५. काल। इन पांचोंमें जीव मिलानेसे द्रव्यके छह भेद होते हैं। इन छहो द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल क्रिया सहित हैं और शेष चार द्रव्य क्रिया रहित हैं। तथा जीव और पुद्गलके स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय दोनों होती हैं। और शेष चार द्रव्योंके केवल स्वभाव पर्याय होती हैं, विभाव पर्याय नहीं होती। जिनमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ते चार गुण होय, उनको पुद्गल कहते हैं। गतिपरिणत जीव और पुद्गलको जो गमनमें सहकारी है उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे जल मछलीके गमनमें सहकारी है। गतिपूर्वक स्थिति परिणत जीव और पुद्गलको जो स्थितिमें सहकारी है उसको अधर्म द्रव्य कहते हैं, जैसे गमन करते हुए पथिकोंको स्थित होनेमें भूमि। ये धर्म और अधर्म द्रव्य गति-

पूर्वक स्थिति परिणत जीव और पुद्गलकी गति और स्थितिमें उदासीन कारण हैं, प्रेरक कारण नहीं हैं।

भावार्थ—जैसे मछली यदि गमन करै, तो जल उसके गमनमें सहकारी है। किंतु ठहरी हुई मछलियोंको जल जबरदस्तीसे गमन नहीं कराता है। अथवा गमन करता हुआ पथिक यदि ठहरै, तो पृथिवी उसके ठहरनेमें सहकारिणी है किंतु गमन करते हुओंको जबरदस्तीसे नहीं ठहराती। इस ही प्रकार यदि जीव और पुद्गल स्वयं गमन करैं, अथवा गमन करते हुए ठहरें, तो धर्म और अधर्म द्रव्य उनकी गति और स्थितिमें उदासीन सहकारी कारण हैं। किंतु ठहरे हुए जीव पुद्गलको धर्मद्रव्य बलात् (जबरन्) नहीं चलाता तथा गमन करते हुए जीव पुद्गलको अधर्म द्रव्य जबरन् नहीं ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्योंको अवकाश देनेके योग्य होय, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

इन छहों द्रव्योंमें आकाश द्रव्य सर्व व्यापी है। शेष पांच द्रव्य सर्व व्यापी नहीं हैं, किंतु अल्प क्षेत्रमें रहनेवाले हैं। आकाशके बहु मध्य भागमें लोक है।

भावार्थ—आकाशका कुछ थोड़ासा मध्यका भाग ऐसा है, जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म और काल ये पांच द्रव्य पाये जाते हैं, उतने आकाशको लोकाकाश और जो आकाश केवल आकाशरूप है, अर्थात् उसमें जीवादिक द्रव्य नहीं हैं, उस आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि आकाश अखंड और एक द्रव्य है, तथापि जीवादिक अन्य द्रव्योंके सम्बन्धसे जितने आकाशमें जीवादिक पांच द्रव्य हैं, उतने आकाशको लोकाकाश कहते हैं। और शेष आकाशको अलोकाकाश कहते हैं। जो समस्त द्रव्योंके परिणमनमें उदासीन सहकारी कारण है; उसको

कालद्रव्य कहते हैं। जैसे कुम्भकारके चाकको नीचेकी कीली, यदि चाक भ्रमण करे तो-सहकारी कारण समझना चाहिये। किंतु ठहरे हुये चाकको जबरदस्तीसे नहीं चलाती। इस ही प्रकार कालको उदासीन कारण समझना चाहिये। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य दोनों ही भिन्न भिन्न अखंड और एक एक द्रव्य हैं।

भावार्थ—धर्मद्रव्य भी अखंड और एक द्रव्य है, तथा अधर्म द्रव्य भी अखण्ड और एक द्रव्य है। ये दोनों ही द्रव्य लोकाकाशमें तिलमें तेलकी तरह सर्वत्र व्याप्त हैं। जीवद्रव्य अनन्तानंत हैं, वे सब इस लोकाकाशमें भरे हुये हैं। जैसे एक दीपकका प्रकाश छोटे बड़े गृहरूप आधारके निमित्तसे छोटा बड़ा होता है, उस ही प्रकार छोटे बड़े शरीररूप आधारके निमित्तसे जीव भी छोटा बड़ा होता है। जीवमें संकोच-विस्ताररूप एक शक्ति है, जिसका कर्मके निमित्तसे परिणमन होता है, और इस ही लिये कर्मका अभाव होनेपर मुक्तजीवके संकोचविस्तार नहीं होता।

अतएव मुक्तजीवका आकार अन्तिम शरीरके (जिस शरीरको छोड़कर मोक्षको जावे) समान है। प्रत्येक जीव जो पूर्णरूपसे विस्ताररूप होय, तो समस्त लोकाकाशको व्याप्त कर सकता है। पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं। पुद्गल द्रव्यके सबसे छोटे खंडको (जिससे छोटा खंड न कभी हुआ और न होगा) परमाणु कहते हैं। लोकमें बहुतसे परमाणु ऐसे हैं, जो अलग अलग हैं, और बहुतसे ऐसे हैं कि, जो अनेक परमाणुओंके परस्पर बंधसे स्कंध कहलाते हैं।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्यके परमाणु और स्कन्ध दो भेद हैं। स्कन्धके अनेक भेद हैं। दो परमाणुओंका स्कन्ध, तीन, चार,

संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओंके स्कन्ध, तथा अनंतानंत परमाणुओंका महास्कन्ध है। जितने आकाशको पुद्गलका एक परमाणु रोकता है, उतने आकाशको एक प्रदेश कहते हैं। पुद्गलके स्कंध कोई एक प्रदेशको रोकते हैं और कोई स्कन्ध दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंको रोकते हैं।

शंका—अनंतानंत परमाणुओंके स्कन्ध असंख्यात प्रदेशवाले लोकमें किस प्रकार समाते हैं?

समाधान—आकाशमें इस प्रकारकी अवगाहन शक्ति है जिसके निमित्तसे एक पदार्थसे घिरे हुये आकाशमें और दूसरे पदार्थ भी आ सकते हैं।

भावार्थ—संसारमें छह प्रकारके पदार्थ हैं, १ सूक्ष्मसूक्ष्म, २ सूक्ष्म, ३ सूक्ष्मस्थूल, ४ स्थूलसूक्ष्म, ५ स्थूल और ६ स्थूलस्थूल। (इनका स्वरूप आगे कहेंगे) इनमेंसे स्थूलस्थूल पदार्थ परस्पर एक दूसरेको रोकते हैं। जैसे एक घडेमें गेहूं भरे हुये हैं, यदि उसमें कोई गेहूं या चने वगैरः स्थूलस्थूल पदार्थ और डालना चाहे, तो नहीं समा सकते। स्थूल पदार्थोंमें कोई पदार्थ एक दूसरेको रोकते हैं और कोई नहीं रोकते हैं। जैसे एक गिलास पानीसे भरा हुआ है। यदि उसमें पानी या तेल वगैरः डाला जाय तो नहीं समा सकता, किंतु बताशे डाले जावें तो समा भी सकते हैं। इनके सिवाय शेष चार प्रकारके पदार्थ परस्पर एक दूसरेको नहीं रोकते। जैसे किसी एक मकानमें एक दीपकका प्रकाश भरा हुआ है, उस ही मकानमें सौ दीपकका प्रकाश समा सकता है। अथवा किसीके मतमें समस्त जीव, आकाश और ईश्वर ये सब पदार्थ सर्वव्यापी माने हैं वे तथा इनके सिवाय पृथ्वी, जल, वायु आदिक भी उस ही क्षेत्रमें

हैं वे किस प्रकार समाये? इसलिये असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनंत पुद्‌गलस्कन्धोंका समावेश बाधित नहीं है।

लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उन एक एक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह परस्पर भिन्न भिन्न एक एक कालाणु स्थित हैं। इन प्रत्येक कालाणुओंको काल द्रव्य कहते हैं। अर्थात् लोका-काशके जितने प्रदेश हैं, उतने ही काल द्रव्य हैं।

भावार्थ—कालद्रव्य एकप्रदेशी है. प्रत्येक जीव तथा धर्म और अधर्म द्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाशद्रव्य अनन्त प्रदेशी है और पुद्गल द्रव्य कोई एकदेशी, कोई संख्यात, कोई असंख्यात और कोई अनंत प्रदेशी है। पुद्गल परमाणु यद्यपि वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे एकदेशी हैं, तथापि भूत और भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षासे बहुप्रदेशी है। क्योंकि इसमें स्निग्ध रूप गुणके योगसे स्कन्धरूप होनेकी शक्ति है, इस कारण उप-चारसे बहुप्रदेशी है। बहुप्रदेशीको काय कहते हैं और एक प्रदेशीको अकाय कहते हैं। काय एक प्रदेशी है, इसलिये अकाय है और शेप पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी है, इसलिये काय हैं।

पुद्गल परमाणु निश्चयनयकी अपेक्षासे अकाय हैं और उपचारनयकी अपेक्षासे काय हैं। छहों द्रव्योंमें अस्तित्व गुण है, इसलिये अस्तिस्वरूप हैं। कालद्रव्यके विना पांचों द्रव्य अस्तिस्वरूप भी हैं और काय स्वरूप भी हैं। इसलिये इन पांचोंको पंचास्तिकाय कहते हैं। छहों द्रव्योंमें एक पुद्गलद्रव्य रूपी है, शेप पांच द्रव्य अरूपी हैं।

इस प्रकार जैन सिद्धांत दर्पण ग्रंथमें अजीवद्रव्य निरूपण नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अधिकार

(पुद्गल द्रव्य निरूपण)

पूर्वाचार्योंने पुद्गल द्रव्यका लक्षण 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः'— अर्थात् जो स्पर्शरसगन्ध और वर्ण इन चार गुण संयुक्त होय, उसको पुद्गल कहते हैं, ऐसा कहा है—पुद्गल द्रव्य अनंत गुणोंका समुदाय है। उनमें ये चार गुण ऐसे हैं, जो समस्त पुद्गलोंमें सदा पाये जाते हैं तथा पुद्गलके सिवाय और किसी भी द्रव्यमें नहीं पाये जाते; इस ही कारण ये चारों पुद्गल द्रव्यके आत्मभूतलक्षण हैं। पहले गुणोंको कथंचित् नित्यानित्य कह आये हैं, इसलिये ये स्पर्शादिक भी स्पर्शत्व आदिककी अपेक्षासे नित्य हैं और मृदुत्व आदिककी अपेक्षासे अनित्य हैं।

भावार्थ—यद्यपि समस्त पुद्गलोंमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये चारों गुण पाये जाते हैं, तथापि ये चारों ही सदा एकसे नहीं बने रहते हैं; किंतु स्पर्श गुण कदाचित् मृदु (कोमल) कदाचित् कठिन, शीत, उष्ण, लघु, गुरु, स्निग्ध और रूक्षरूप परिणमन करता है। ये इस स्पर्श गुणकी अर्थ पर्याय हैं।

इस ही प्रकार तिक्त, कटुक, आम्ल, मधुर और कषाय (चिरपिरा, कडुआ, खट्टा, मीठा और कसायला) ये रसके मूल भेद हैं, तथा दुर्गंध और सुगंध ये दो गंधके भेद हैं, और नील, श्वेत, श्याम, और लाल ये वर्णगुणके पांच भेद हैं, इस प्रकार इन चार गुणोंके मूल भेद बीस, उत्तरभेद यथासंभव संख्यात, असंख्यात अनंत इनके सिवाय हैं। पुद्गल द्रव्यकी अनंत पर्या हैं, उनमें दश पर्याय मुख्य हैं। उनके नाम और स्वरूप कहते हैं—

शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया,

आतप और उद्योत ये दश पुद्गल द्रव्यके मुख्य पर्याय हैं। शब्दके दो भेद हैं एक भाषात्मक, और दूसरा अभाषात्मक। भाषात्मकके भी दो भेद हैं एक अक्षरात्मक और दूसरा अनक्षरात्मक। अक्षरात्मकके संस्कृत, प्राकृत, देशभाषा आदि अनेक भेद हैं, और द्वींद्रियादिक जीवोंकी भाषा तथा अर्हत-देवकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है। दिव्यध्वनि कंठतालु आदिके स्थानोंसे अक्षररूप होकर नहीं निकलती है, किंतु सर्वांगसे ध्वनिस्वरूप उत्पन्न होकर पश्चात् अक्षररूप होती है, इसलिये अनक्षरात्मक है। इस भाषात्मक शब्दसे समस्त ही भेद परके प्रयोगसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्दके दो भेद हैं एक प्रायोगिक दूसरा स्वाभाविक। जो मेघादिकसे उत्पन्न होय, उसे स्वाभाविक कहते हैं, और जो दूसरेके प्रयोगसे होय उसको प्रायोगिक कहते हैं।

प्रायोगिकके चार भेद हैं—१ तत, २ वितत, ३ घन और ४ शौपिर। चर्मके विस्तृत करनेसे मढे हुए ढोल, नगाड़ा, मृदंगादिकसे उत्पन्न हुए शब्दको तत कहते हैं, सितार तमूरा आदिक तारके बाजोंसे उत्पन्न हुए शब्दको वितत कहते हैं, ताल, घण्टा आदिकसे उत्पन्न हुए शब्दको घन कहते हैं, और बांसुरी शंखादिक, फूंकसे बजनेवाले बाजोंसे उत्पन्न हुए शब्दको शौपिर कहते हैं। कितने ही मतावलम्बी शब्दको अमूर्त आकाशका गुण मानते हैं, सो ठीक नहीं है। जो पदार्थ मूर्त्तमान् इन्द्रियसे ग्रहण होता है, वह अमूर्त नहीं किंतु मूर्त ही है। क्योंकि इन्द्रियोंका विषय अमूर्त पदार्थ नहीं है। इसलिये श्रोत्र इन्द्रियका विषय होनेसे शब्द मूर्त है।

शंका—जो शब्द मूर्त है, तो दूसरे घटपटादिक पदार्थोंकी तरह बार बार उसका ग्रहण क्यों नहीं होता?

समाधान—जैसे बिजलीकी एकवार नेत्र इन्द्रियसे ग्रहण होकर चारों तरफ फैल जानेसे वार वार उसका ग्रहण नहीं होता, इस ही प्रकार शब्दका भी श्रोतेन्द्रिय द्वारा एकवार ग्रहण होकर चारों तरफ फैल जानेसे बार वार उसका ग्रहण नहीं होता।

शंका—जो शब्द मूर्त है, तो नेत्रादिक इन्द्रियोंसे भी उसका ग्रहण क्यों नहीं होता?

समाधान—प्रत्येक इन्द्रियका विषय नियमित होनेसे, जैसे रसादिकका ग्रहण घ्राणादिक इंद्रियोंसे नहीं होता, उस ही प्रकार श्रोत्र इंद्रियके विषयभूत शब्दका भी नेत्रादिक इंद्रियोंसे ग्रहण नहीं होता है। अथवा जो शब्द अमूर्त होता, तो मूर्तिमान् पवनकी प्रेरणासे श्रोताके कानों तक नहीं पहुंचता तथा मूर्तिमान् चुने पत्थरकी दीवारोंसे नहीं रुकता।

वंधके भी दो भेद हैं, एक स्वाभाविक और दूसरा प्रायोगिक। स्वाभाविक (पुरुष प्रयोग अनपेक्षित) वंध दो प्रकार है एक आदि और दूसरा अनादि। स्निग्धरूक्ष गुणके निमित्तसे बिजली मेघ इंद्रधनुष आदिक स्वाभाविक सादिवंध हैं। अनादि स्वाभाविक वंध धर्म अधर्म और आकाश द्रव्योंमें एक एकके तीन तीन भेद होनेसे नौ प्रकारका है—

१ धर्मास्तिकाय वंध, २ धर्मास्तिकाय देशबंध, ३ धर्मास्तिकाय प्रदेशवंध, ४ अधर्मास्तिकाय वंध, ५ अधर्मास्तिकाय देश वंध, ६ अधर्मास्तिकाय प्रदेशवंध, ७ आकाशास्तिकाय वंध, ८ आकाशास्तिकाय देशवंध और ९ आकाशास्तिकाय प्रदेशवंध। जहां सम्पूर्ण धर्मास्तिकायकी विवक्षा है, वहां धर्मास्तिकायवंध कहते हैं। आधेको देश और चौथाईको प्रदेश कहते हैं।

इस प्रकार अधर्म और आकाशमें समझना चाहिये। कालाणु भी समस्त एक सरेसे संयोगरूप हो रहे हैं और इस संयोगका कभी वियोग नहीं होता, सो यह कभी अनादि संयोगकी अपेक्षासे अनादिबंध है। एक जीवके प्रदेशोंके संकोचविस्तार स्वभाव होनेपर भी परस्पर वियोग न होनेसे अनादिबंध हैं। नाना जीवोंके भी सामान्य अपेक्षासे दूसरे द्रव्योंके साथ अनादिबंध है। पुद्गलद्रव्यमें भी महास्कंधादिके सामान्यकी अपेक्षासे अनादिबंध है।

इस प्रकार यद्यपि समस्त द्रव्योंमें बंध है, तथापि यहां प्रकरणके वशसे पुद्गलका बंध ग्रहण करना चाहिये। जो पुरुषके प्रयोगसे होय, उसको प्रायोगिक बंध कहते हैं। वह प्रायोगिक बंध दो प्रकारका है एक पुद्गल विषयिक दूसरा जीव पुद्गल विषयिक। पुद्गल विषयिक लाक्षाकाष्ठादिक हैं, और जीव पुद्गल विषयिकके दो भेद हैं—एक कर्मबंध और दूसरा नोकर्मबंध।

भावार्थ—पुद्गलके दो भेद हैं-एक अणु और दूसरा स्कंध। स्कंधके यद्यपि अनंत भेद हैं तथापि संक्षेपसे बावीस भेद हैं और एक भेद अणुका, इस प्रकार पुद्गलके सब मिलकर तेवीस भेद हैं। इन्हींको तेवीस वर्गणा कहते हैं। यद्यपि ये समस्त वर्गणा पुद्गलकी ही है, तथापि इनमें परमाणुओंमेंसे अठारह वर्गणाओंका जीवसे कुछ संबंध नहीं है, और पांच वर्गणाओंको जीव ग्रहण करते हैं। उन पांच वर्गणाओंके नाम इस प्रकार हैं; १. आहारवर्गणा, २. तैजसवर्गणा, ३. भाषावर्गणा, ४. मनोवर्गणा और ५. कार्माण वर्गणा। आहार वर्गणासे औदारिक (मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर), वैक्रियिक (देव और नारकियोंका शरीर) और आहारक (छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके शंका निवारणार्थ केवलीके निकट जानेवाला सूक्ष्म शरीर) ये तीन शरीर

श्वासोच्छवास बनते है, तैजस वर्गणासे तैजस शरीर (मृतक और जीवित्त शरीरमें जो कांतिका भेद है, वह तैजस शरीरकृत है। मृत्यु होनेपर तैजस शरीर जीवके साथ चला जाता है) बनता है, भाषा वर्गणासे शब्द बनते हैं, मनोवर्गणासे द्रव्यमन बनता है जिसके द्वारा कह जीव हित अहितका विचार करता है, और कार्माण वर्गणासे ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म (इनका विशेष स्वरूप आगे लिखा जायगा) बनते हैं। जिनके निमित्तसे यह जीव चतुर्गति रूप संसारमें भ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख पाता है और जिनका क्षय होनेसे यह जीव मोक्षपदको प्राप्त होता है, इन ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोके पिंडको ही कार्माण शरीर कहते हैं।

इस प्रकार इस जीवके औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माग ये पांच शरीर हैं। इनमेंसे कार्माण शरीरको कर्म और शेष शरीरोंको नोकर्म कहते हैं। जीव और कर्मके बंधको कर्मवंध कहते हैं तथा जीव ओर नोकर्मके बन्धको नोकर्मवन्ध कहते हैं। अथवा प्रायोगिक वन्धके पांच भेद हैं। १ आलपन, २ आलेपन, ३ संश्लेष, ४ शरीर और ५ शरीरी (जीव)। रथ गाड़ी आदिकको लोहरस्सी आदिकसे खेंचकर बांधनेको आलपन बन्ध कहते हैं। दीवार आदिकको मट्टी, गोचर, चूना आदिकसे लीपनेको आलेपन वन्ध कहते हैं। लाख काष्टादिकके बंधको संश्लेपबंध कहते हैं। शरीर बंधके पांच भेद हैं, १ औदारिक, २ वैक्रियिक, ३ आहारक, ४ तैजस और ५ कार्माण। औदारिक शरीर बंधके चार भेद है, १ औदारिक शरीर नोकर्मके प्रदेशोंके औदारिक शरीर नोकर्मके प्रदेशोंसे परस्पर प्रवेशात्मक बंधको औदारिक शरीरबंध कहते हैं। २ औदारिक और तैजस इन दोनों शरीरोंके प्रदेशोंके परस्पर प्रवेशको औदारिक तैजसबंध कहते हैं। ३ औदारिक कार्माग शरीरोंके प्रदेशोंके परस्पर

बन्धको औदारिक कार्माण शरीरबन्ध कहते हैं। ४ औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीनों शरीरोंके प्रदेशोंके परस्पर बन्धको औदारिक तैजस कार्माण बन्ध कहते हैं। ५ इस ही प्रकार वैक्रियिक वैक्रियिक, वैक्रियिक तैजस, वैक्रियिक कार्माण और वैक्रियिक तैजस कार्माण ते वैक्रियिकके चार भेद हैं। तथा आहारक आहारक, आहारक तैजस, आहारक कार्माण और आहारक तैजस कार्माण ये चार भेद आहारकके हैं। तैजस और तैजस कार्माण ये दो भेद तैजसके हैं। तथा कार्माण कार्माण यह एक भेद कार्माणका है।

इस प्रकार शरीर बन्धके पन्द्रह भेद हैं—शरीरी (जीव) बन्धके दो भेद हैं-एक अनादि दूसरा आदि। बहुतसे परमाणु अनादिकालसे आत्मासे बन्धरूप हो रहे हैं, उसको अनादिबन्ध कहते हैं और बहुतसे परमाणुओंका पीछेसे आत्माका संबंध हुआ है उसको सादिबन्ध कहते हैं। अथवा शरीरबन्धके जो पन्द्रह भेद कहे हैं, उनके साथ आत्माका बंध है इसलिये जीव बंधके भी पन्द्रह भेद हैं।

शंका—कर्म और नोकर्ममें क्या भेद है?

समाधान—जो आत्माके गुणोंको घातता है अथवा गत्यादिक रूप आत्माको पराधीन करता है उसको कर्म कहते हैं, और नोकर्म इससे विपरीत न तो आत्माके गुणको घातक है और न आत्माको पराधीन करता है इसलिये नोकर्म है। अथवा कर्म शरीरका सहकारी है, इसलिये ईषत्कर्म अर्थात् नोकर्म है।

सूक्ष्मपना दो प्रकार है एक आत्यन्तिक और दूसरा आपेक्षिक। परमाणुमें आत्यंतिक सूक्ष्मपना है और नारियल, आम बेर आदिकमें आपेक्षिक सूक्ष्मपना है। तथा इस ही प्रकारसे स्थूलपनेके भी दो भेद हैं। जगद्व्यापी महास्कंधमें आत्यंतिक स्थूलपना है और बेर, आम, नारियल, आदिकमें आपेक्षिक

स्थूलपना है। संस्थान आकारको कहते हैं, सो दो प्रकारके हैं एक इत्थंलक्षण और दूसरा अनित्थंलक्षण। गोल त्रिकोण चतुष्कोण आदिक इत्थंलक्षण हैं जहां "यह आकार ऐसा है" इस प्रकार निरूपण न हो सकै, ऐसे जो मेघादिकके अनेक आकार हैं उनको अनित्थंलक्षण कहते हैं। भेद छह प्रकारका है—

१ उत्कर, २ चूर्ण, ३ खंड, ४ चूर्णिका, ५ प्रतर और ६ अणुचटन। काष्टादिके करोंतादिकसे लिये हुये टुकडोंको उत्कर कहते हैं, गेंहूँ, जौ आदिकके सत्तू आटे आदिकको चूर्ण कहते हैं, घटके कपालादिकको खण्ड कहते हैं। उड़द मूंग आदिककी दालको चूर्णिका कहते हैं, मेघपटलादिकको प्रतर कहते हैं और गरम लोहेको हथौड़े आदिकसे कूटते समय जो फुलिंगे निकलते हैं, उनको अणुचटन कहते हैं। दृष्टिको रोकनेवाले अन्धकारको तम कहते हैं, जिसको दूर करता हुआ प्रदीप प्रकाश करता है।

प्रकाशको आवरण करने (ढकने) वाले शरीरादिकके निमित्तसे छाया होती है। उस छायाके दो भेद हैं—एक तद्वर्णादिविकारवती और दूसरी प्रतिबिम्बमात्र ग्राहिका। दर्पणादिक उज्वल द्रव्यमें मुखादिकके वर्णादिक रूप परिणत छायाको तद्वर्णादि विकारवती कहते हैं, और वर्णादिक परिणति न होकर केवल प्रतिबिम्बमात्र होय, उसे प्रतिबिम्बमात्र ग्राहिका कहते हैं। उष्ण प्रकाशवाली सूर्यकी धूपको आतप कहते हैं। चंद्रमा मणि खद्योतादिकके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

पहले पुद्गलको क्रियावान् कह आये हैं। उस क्रियाके दश भेद हैं—

भावार्थ—१ बाणादिकके प्रयोगगति है, २ एरंडादिकके बंधाभावगति है, ३ मृदंगादिकके शब्दके छिन्नरूप पुद्गलोंकी गतिकी छेदगति कहते हैं, ४ पाषाणादिकके गुरुगति है, ५ अर्कतूलादिकके लघुगति है, ६ मेवादिकके संचारगति है, ७ मेवादिक

तथा अश्वादिकके संयोगनिमित्तके संयोगगति है, ८ गेंदादिकके अभिघातगति है, ९ नौका आदिकके अवगाहगति है, १० पवन, अग्नि, परमाणु, सिद्ध, ज्योतिष्क आदिकके स्वभावगति है।

अर्थात् केवल पवनके तिर्यग्गति है और धौंकनी आदिकके निमित्तसे अनियतगति है। अग्निके ऊर्ध्वगति है और कारणके वशसे अन्य दिशाओंमें भी गति है। परमाणुके अनियतगति है सिद्धक्षेत्रको जाते हुये सिद्धोंके केवल उर्ध्वगति है, मध्य लोकमें ज्योतिष्कोंके नित्यभ्रमणगति है।

पूर्वकथित पुद्गलके दो भेद हैं—एक अणु और दूसरा स्कंध। प्रदेश मात्रमें होनेवाले स्पर्शादिक गुणोंसे निरंतर परिणमैं वे अणु हैं। इन अणुओंको परमाणु भी कहते हैं। प्रत्येक परमाणु षट्कोण आकारवाला, एक प्रदेशावगाही, स्पर्शादिक समुदायरूप, अखण्ड द्रव्य है। अत्यंत सूक्ष्म होनेसे आत्मादि, आत्ममध्य, आत्मान्त है। है। इन्द्रियोंसे अगोचर और अविभागी है। स्थूलपनेसे ग्रहण निक्षेपणादिक व्यापारको जो प्राप्त हो, उसे कंध कहते हैं।

यद्यपि द्व्यणुक आदि स्कन्धोंमें ग्रहण निक्षेपण व्यापार नहीं हो सकता है, तथापि रूढ़िके वशसे जैसे गमन क्रिया रहित सोती हुई बैठी हुई गायको गो शब्दसे कहते हैं, उस ही प्रकार द्व्यणुक आदिक स्कन्ध, ग्रहण निक्षेपणादिक व्यापारवान् न होनेपर भी स्कन्ध शब्दसे कहे जाते हैं। शब्द बन्धादिक स्कन्धोंके ही होते हैं, परमाणुके नहीं होते।

पुद्गल शब्दकी निरुक्ति पूर्वाचार्योंने इस प्रकारकी है, पूरयन्ति गलयन्तीति पुद्गलाः अर्थात् जो पूरैं और गलैं उनको पुद्गल कहते हैं। यह अर्थ पुद्गलके अणु और स्कन्ध इन दोनों भेदोंमें व्यापक है। अर्थात् परमाणुमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप

गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता होनेसे पूरण गलन हैं, अथवा परमाणु स्कंधोंमें मिलते हैं तथा स्कंधोंसे जुदे होते हैं, इसलिये वे पूरण गलन धर्म संयुक्त हैं। और स्कन्ध अनेक पुद्गलोंका एक समूह है, इसलिये पुद्गलोंसे अभिन्न होनेसे उनमें पुद्गल शब्दका व्यवहार है।

कोई महाशय परमाणुको कारण ही मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्कन्धके भेद होनेसे परमाणुकी उत्पत्ति होती है इसलिये वह कथंचित् कार्य भी है। तथा कोई कोई महाशय परमाणुको नित्य मानते हैं, सो भी उचित नहीं है। क्योंकि परमाणुमें स्निग्धादिक गुणोंका उत्पाद और व्यय होता है, इसलिये परमाणु कथंचित् अनित्य भी हैं। तथा द्यणुक आदिककी तरह संघातरूप कार्यके अभावसे परमाणु कारण स्वरूप भी है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे परमाणुकी न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी नाश होता है इसलिये कथंचित् नित्य भी है। निरवयव होनेसे परमाणुसे एकरस, एक वर्ण और एक गन्ध है। जो सावयव होते हैं, उनके ही अनेक रस आदिक होते हैं। जैसे आम्रादिकके अनेक रस मयूरादिकके अनेक वर्ण और अनुलेपादिकके अनेक गंध हैं। एक प्रदेशी परमाणुके अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं।

अर्थात् शीत और उष्ण इन दोमेंसे एक तथा स्निग्ध और रूक्ष इन दोमेंसे एक, इस प्रकार दो अविरुद्ध स्पर्श होते हैं। एक प्रदेशी परमाणुके परस्पर विरुद्ध शीत और उष्ण तथा स्निग्ध और रूक्ष दोनों युगपत् नहीं हो सकते, दोनोंमेंसे एक एक ही होता है। गुरु, लघु, मृदु और कठिन ये चार स्पर्श परमाणुओंमें नहीं, किंतु स्कन्धोंमें होते हैं। यद्यपि परमाणु, इन्द्रियोंके गोचर (विषय) नहीं हैं, तथापि घट, पट, शरीरादिक कार्यके देखनेसे कारणरूप परमाणुओंके अस्तित्वका अनुमान होता है।

क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। परमाणु कारणादि अनेक विकल्परूप अनेकांतात्मक हैं।

भावार्थ—परमाणु द्व्यणुक आदिक स्कन्धोंकी उत्पत्तिका निमित्त है इसलिये कथंचित् कारण है, स्कन्धोंके भेद (खंड) होनेसे उत्पन्न होता है, इसलिये कथंचित् कार्य है, स्कन्धोंका विभाग होते होते परमाणु होता है और परमाणुका पुनः विभाग नहीं होता इसलिये कथंचित् अंत्य है, स्पर्शादिक गुणोंका समुदाय है, सोही परमाणु है इसलिये एक परमाणु स्पर्शादिक अनेक भेदस्वरूप है इस लिये कथंचित् अंत्य नहीं है, सूक्ष्म परिणामरूप होनेसे कथंचित् सूक्ष्म है, स्थूल स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण होनेसे कथंचित् स्थूल है, द्रव्यपनेका कभी नाश नहीं होता इसलिये कथंचित् नित्य है, स्निग्धादिकका परिणमन होता रहता है इसलिये कथंचित् अनित्य है, एकप्रदेश पर्यायकी अपेक्षासे कथंचित् एक रस गंध, वर्ण और द्विस्पर्श रूप है। अनेक प्रदेशरूप स्कन्ध परिणम शक्ति सहित होनेसे कथंचित् अनेक रसादि रूप है। कार्यलिंगसे अनुमीयमान होनेकी अपेक्षासे कथंचित् कार्य लिंग नहीं है।

इस प्रकार परमाणु अनेक धर्मस्वरूप है। प्राचीन सिद्धांतकारोंने भी कहा है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

अब आगे स्कन्धका वर्णन करते हैं—

बंधपरिणामको प्राप्त हुए परमाणुओंको स्कंध कहते हैं। स्कंधके यद्यपि अनन्त भेद हैं, तथापि संक्षेपसे तीन भेद हैं। १ स्कन्ध, २ स्कन्धदेश और ३ स्कन्धप्रदेश।

भावार्थ—अनन्तानंत परमाणुओंका महास्कन्ध उत्कृष्ट स्कन्ध है। महास्कन्धमें जितने परमाणु हैं, उसके आधेमें एक जोड़नेसे

जो संख्या हो उसको जघन्यस्कन्ध कहते हैं, वीचके स्कन्धोंको मध्यस्कन्ध कहते हैं, महास्कन्धमें जितने परमाणु हैं, उनसे आधे परमाणुओंके स्कन्धको उत्कृष्टस्कन्ध देश कहते हैं, महास्कन्धके परमाणुओंकी संख्यासे चौथाईमें एक मिलानेसे जितनी संख्या हो, उतने परमाणुओंके स्कन्धको जघन्यस्कन्ध देश कहते हैं, वीचके स्कन्धोंको मध्यस्कन्ध देश कहते हैं। महास्कन्धके परमाणुओंकी संख्यासे चौथाई परमाणुओंके स्कन्धको उत्कृष्ट स्कन्ध प्रदेश कहते हैं। दो परमाणुओंके स्कन्धको जघन्य स्कन्ध प्रदेश कहते हैं और वीचके स्कन्धको मध्यस्कन्ध प्रदेश कहते हैं।

इस प्रकार स्कन्धके तीन भेद और एक परमाणु, सब मिलकर पुद्गलके चार भेद हुए। अथवा अन्य प्रकारसे पुद्गल-द्रव्यके छह भेद कहे हैं—

१ वादरवादर, २ वादर, ३ वादर सूक्ष्म, ४ सूक्ष्म वादर, ५ सूक्ष्म और ६ सूक्ष्मसूक्ष्म। जो पुद्गलपिंड दो खण्ड करने पर अपने आप फिर नहीं मिलै, ऐसे काष्टपाषाणादिकको वादरवादर कहते हैं। जो पुद्गल पिंड खण्ड खण्ड किये हुए अपने आप मिल जाय, ऐसे दुग्ध, घृत, तैलादिक पुद्गलोंको वादर कहते हैं। जो पुद्गल पिंड स्थूल होनेपर भी छेद भेद और ग्रहण करनेमें नहीं आवे, ऐसे धूप छाया चाँदनी आदिक पुद्गलोंको वादर सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म होनेपर भी स्थूलवत् प्रतिभा समान स्पर्शन-रसन-घ्राण और श्रोतेन्द्रिय ग्राह्य स्पर्श रस गन्ध और शब्दरूप पुद्गलोंको सूक्ष्मवादर कहते हैं। इन्द्रियोंके अगोचर कर्मवर्गणादिक स्कन्धोंको सूक्ष्म कहते हैं। परमाणुको सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

कोई कोई आचार्योंने ये छह भेद स्कन्धोंके माने हैं। वे कर्मवर्गणासे नीचे द्व्यणुकस्कन्ध पर्यंतके स्कन्धोंको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं और परमाणुको भिन्नभेदमें ग्रहण करते हैं। उनके मतानुसार

पुद्गलके सात भेद हैं। अथवा स्कन्धके पृथ्वी अप् तेज और वायु ये चार भेद हैं। इनमेंसे प्रत्येक भेद स्पर्श रस गंध और वर्ण इन चारों गुण संयुक्त हैं, तथा ये ही पृथ्वी आदिक ही शब्दादिक रूप परिणमैं हैं कई महाशय पृथ्वी आदिक चारोंको भिन्न भिन्न पदार्थ मानते हैं और पार्थिवादिक परमाणुओंको भिन्न भिन्न जातिवाले मानते हैं, पृथ्वीके परमाणुओंको स्पर्श रस गंध और वर्ण चारों गुणवाले, जलके परमाणुओंको गंध विना तीन गुणवाले, अग्निके परमाणुओंको वर्ण और स्पर्श दो गुणवाले और वायुके परमाणुओंको केवल स्पर्श गुणवाले मानते हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि पृथ्वी आदिकके परमाणुओंका जलादिक परमाणुरूप परिणमन दीखता है।

इसका खुलासा इस प्रकार है कि, काष्ठादिक पृथ्वीरूप पुद्गल अग्निरूप होते दीखते हैं, स्वातिनक्षत्रमें सीपके मुखमें गिरी हुई जलकी बून्द मोती हो जाती है, ग्रहण किया हुआ आहार वात (पवन) पित्त (जठराग्नि) रूप होता है, मेघ जलरूप हो जाता है, जल वर्फ (पृथ्वी) रूप हो जाता है, दियासलाई (पृथ्वी) अग्निरूप हो जाती है।

यदि कोई कहै कि, दियासलाईमें अग्निके परमाणु पहलेहीसे थे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि दियासलाईमें अग्निके लक्षण उष्ण स्पर्शका अभाव है। इत्यादि अनेक दोष आते हैं, इसलिये ये पृथ्वी आदिक भिन्न भिन्न द्रव्य नहीं हैं किन्तु एक पुद्गल द्रव्यके ही ये चारों पर्याय हैं। पृथ्वीमें चारों गुणोंकी मुख्यता है; जलमें गन्धकी गौणता है, अग्निमें गंध और रसकी गौणता है और वायुमें स्पर्शकी मुख्यता और शेष तीनकी गौणता है। ये चारों ही गुण परस्पर अविनाभावी हैं। जहां एक है वहां चारों हैं। ये स्कंध पुद्गलत्वकी अपेक्षासे यद्यपि अनादि हैं, तथापि उत्पत्तिकी अपेक्षासे आदिमान् हैं। अब आगे स्कंधोंकी उत्पत्तिके कारणका निरूपण करते हैं—

भेद (खंड होना) संघात (मिलना) और दोनोंसे (भेद संघातसे) स्कंधोंकी उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुकस्कंध होता है, द्व्यणुकस्कंध और एक परमाणुके मिलनेसे त्र्यणुकस्कंध होता है, दो द्व्यणुकस्कंध अथवा एक त्र्यणुकस्कंध और एक परमाणुसे चतुरणुक स्कन्ध होता है।

इस ही प्रकार संख्यात असंख्यात अनंत परमाणुओंके स्कंधोंकी संघातसे उत्पत्ति होती है तथा स्कन्धोंके भेदसे भी स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। किंतु द्व्यणुकस्कन्धोंके भेदसे स्कंधकी उत्पत्ति नहीं होती। कभी कभी एक ही समयमें एक स्कन्धमेंसे किसी एक अंशका भेद होता है, और उस ही समयमें भेदसंघात दोनोंके होनेसे वह स्कन्ध उभयजन्य कहा जाता है।

परमाणुकी उत्पत्ति केवल भेदसे ही होती है। संघातसे परमाणुकी उत्पत्ति असंभव है। इसलिये परमाणुकी उत्पत्ति न तो संघातसे होती है ओर न भेद संघातसे होती है, केवल भेदसे ही होती है। अनंतानंत परमाणुओंके समूह रूप स्कन्धोंमें कोई स्कंध चाक्षुष (नेत्रगोचर) होता है और कोई अचाक्षुष होता है। चाक्षुष स्थूल है और अचाक्षुष सूक्ष्म है।

सूक्ष्म अचाक्षुप स्कंधमेंसे किसी अंशका भेद होनेसे वह सूक्ष्मस्कंध सूक्ष्म ही रहेगा, भेद होनेसे सूक्ष्मपरिणतस्कन्ध स्थूल नहीं हो सकता कन्तु उस सूक्ष्म स्कंधमेंसे किसी एक अंशका भेद होनेपर यदि दूसरे स्कन्धसे उस ही समय संघात भी हो जाय, तो वह सूक्ष्मपरिणतस्कन्ध चाक्षुष हो सकता है, केवल भेदसे चाक्षुष नहीं होता है। अब आगे बंधका कारण कहते हैं—

अनेक परमाणु अथवा स्कन्धोंके परस्पर एकीभावको बंध कहते हैं, केवल संयोग मात्रको बंध नहीं कहते हैं। जैसे कि

एक घडेमें बहुतसे चने भरे हैं, सो यहां चनोंका परस्पर संयोग है बंध नहीं है। क्योंकि उनमें परस्पर एकीभाव नहीं है–भिन्न भिन्न हैं। किंतु एक चनेमें जो अनंत परमाणुओंका समुदाय है सो वन्धरूप है। क्योंकि यहां एकीभाव (एकता) है। इस ही प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। यह वन्ध स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे होता है।

भावार्थ—पुद्गल द्रव्यके स्पर्शादिक चार गुणोंमेंसे स्पर्शगुणके आठ भेद हैं, उनमेंसे स्निग्ध और रूक्ष इन दो गुणोंके निमित्तसे बंध होता है। उसका खुलासा इस प्रकार है कि प्रत्येक गुणमें हीनाधिकता होती है, उस हीनाधिकताका परिणाम उस गुणके अंशोंके (अविभाग प्रतिच्छेदोंके द्वारा किया जाता है। अविभाग प्रतिच्छेद गुणका अंश है और अंशअंशी कथंचित् अभिन्न है। इसलिये अविभाग प्रतिच्छेदको कथंचित् गुण भी कह सकते हैं। परमाणुओंमें सदाकाल अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता होती रहती है, तथा स्निग्ध गुण भी परिणमन हो जाता है और कदाचित् स्निग्धका रूक्षरूप भी परिणमन होता रहता है।

जैसे जल, बकरीका दूध, गायका दूध, भैंसका दूध और घृत इन पदार्थोंमें अधिक अधिक स्निग्धता पाई जाती है। तथा रज, बालू आदिकमें अधिक अधिक रूक्षता है। उस ही प्रकार परमाणुमें भी स्निग्धता और रूक्षताकी हीनाधिकता होती है। स्निग्ध गुणवाले परमाणु वा स्कन्धका स्निग्ध गुणवाले परमाणु व स्कंधके साथ, तथा रुक्षका रुक्षके साथ और स्निग्धका रुक्षके साथ इस प्रकार समान जातीय तथा असमान जातीय दोनोंका परस्पर बंध होता है। जिन परमाणुओंमें स्निग्धका तथा रुक्षका एक गुण (अविभाग प्रतिच्छेद) है, उनका किसी दूसरे स्कन्ध वा परमाणुके साथ बंध नहीं होता और इस ही प्रकार जिन पर-

माणुओंमें गुणोंकी (अविभाग प्रतिच्छेदोंकी) संख्या समान है, उनका भी परस्पर बंध नहीं होता है। किंतु जिस परमाणुमें दो गुण अधिक हैं, उसका अपनेसे दो गुण हीनवालेसे बंध होता है।

भावार्थ—दो गुण स्निग्धका, चार गुण स्निग्ध तथा चार गुण रूक्षवालेसे बंध होता है, एक दो तीन पाँच आदि गुणवालोंसे बंध नहीं होता। तथा तीन गुणवालेका पाँच गुणवालेसे बंध होता है, शेषसे नहीं होता है। इस ही प्रकार अन्य संख्यामें भी समझ लेना। तथा जैसे स्निग्धका कहा, उस ही प्रकार तीन गुणवाले रूक्षका पाँच गुणवाले रूक्ष तथा स्निग्धके साथ बंध होता है, शेषके साथ नहीं होता। इस ही प्रकार अन्यत्र भी लगा लेना। यहाँ इतना विशेष जानना कि जो अधिक गुणवाला होता है, वह हीन गुणवालेको अपने परिणामस्वरुप कर लेता है।

भावार्थ—जैसे अधिक मधुर रसवाला गुण अपने ऊपर पड़ी हुई रजको अपने स्वरुप परणमा लेता है, वैसे ही सर्वत्र जानना। दो स्कन्धोंका जब परस्पर बंध होता है और अधिक गुणवाला हीन गुणवालेको अपने स्वरुप परिणमाता है, तब पहिली दोनों अवस्थाओंके त्यागपूर्वक तीसरी अवस्था प्रगट होती है, और दोनोंका एक स्कन्ध हो जाता है। अन्यथा अधिक गुणवाला पारिणामिक न होनेसे कृष्ण और श्वेत तन्तुकी तरह संयोग होनेपर भी भिन्न भिन्न रहते हैं।

इस प्रकार जैन सिद्धांत दर्पण ग्रंथमें पुद्गलद्रव्य निरूपण नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

पाँचवाँ अधिकार

धर्म और अधर्मद्रव्य निरूपण

अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें आकाशके उस भागको जिसमें जीवादिक पाँच द्रव्य स्थित हैं, लोकाकाश कहते हैं। इन पाँच द्रव्योंमेंसे पुद्गल द्रव्यका कथन समाप्त हो चुका, आकाश काल और जीवका कथन आगे किया जावेगा। धर्म और अधर्म द्रव्यका निरूपण इस अधिकारमें किया जाता है।

संसारमें धर्म और अधर्म शब्दसे पुण्य और पाप समझे जाते हैं। परन्तु यहां पर वह अर्थ नहीं है। यहां धर्म और अधर्म शब्द द्रव्यवाचक हैं, गुणवाचक नहीं हैं। पुण्य और पाप आत्माके परिणाम विशेष हैं, अथवा "जो जीवोंको संसारके दुःखसे छुड़ाकर मोक्ष सुखमें धारण करता है, सो धर्म है और इससे विपरीत अधर्म है" यह अर्थ भी यहां पर नहीं समझ लेना चाहिये। क्योंकि ये भी जीवके परिणाम विशेष हैं। यहां पर धर्म और अधर्म शब्द दो अचेतन द्रव्योंके वाचक हैं। ये दोनों ही द्रव्य तिलमें तेलकी तरह समस्त लोकमें व्यापक हैं। धर्म द्रव्यका स्वरूप श्रीमत्कुन्दकुन्दस्वामीने इस प्रकार कहा है—

गाथा।

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढं पुट्ठं पिदुलमसंखादि य पदेसं ॥ १ ॥
अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहि परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ २ ॥
उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥ ३ ॥

अर्थात्—धर्मास्तिकाय स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दसे रहित है, अतएव अमूर्त्त है, सकल लोकाकाशमें व्याप्त है, अखण्ड, विस्तृत और असंख्यातको शुद्ध कर षट्स्थान पतित वृद्धिहानि (इसका स्वरूप इस ही अधिकारके अंतमें कहा जावेगा, वहांसे जानना) द्वारा अगुरुलघु गुणके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतासे उत्पादन व्यय स्वरूप है। अपने स्वरूपसे च्युत न होनेसे नित्य है, गतिक्रिया-परिणत जीव और पुद्गलको उदासीन सहाय मात्र होनेसे कारणभूत है। आप किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये अकार्य है। जैसे जल स्वयं गमन न करता हुआ तथा दूसरोंको गतिरूप परिणमानेमें प्रेरक न होता हुआ, अपने आप गमनरूप परिणमते हुए मत्स्यादिक (मछली वगैरह) जलचर जीवोंको उदासीन सहकारी कारण मात्र है, उस ही प्रकार धर्मद्रव्य भी स्वयं गमन नहीं करता हुआ तथा परको गतिरूप परिणमानेमें प्रेरक न होता हुआ स्वयमेव गतिरूप परिणमे जीव और पुद्गलोंको उदासीन अविनाभूत सहकारी कारण मात्र है। अर्थात् जीव और पुद्गलद्रव्य परगति-सहकारित्व-रूप धर्मद्रव्यका उपकार है।

जिस प्रकार धर्मद्रव्य गतिसहकारी है, उस ही प्रकार अधर्मद्रव्य स्थिति सहकारी है।

भावार्थ—जैसे पृथ्वी स्वयं पहलेहीसे स्थित रूप है, तथा परकी स्थितिमें प्रेरकरूप नहीं है। किंतु स्वयं स्थितिरूप परिणमते हुए अश्वादिकों (घोड़े वगैरह) को उदासीन अविनाभूत सहकारी कारण मात्र है, उस ही प्रकार अधर्मद्रव्य भी स्वयं पहले हीसे स्थितिरूप परके स्थिति परिणाममें प्रेरक न होता हुआ स्वयमेव स्थितिरूप परिणमें जीव और पुद्गलोंको उदासीन अविनाभूत सहकारी कारण मात्र है। अर्थात् जीव और पुद्गल द्रव्य पर-स्थिति सहकारित्वरूप अधर्म द्रव्यका उपकार है।

जिस प्रकार गतिपरिणामयुक्त पवन, ध्वजाके गतिपरिणामका हेतुकर्त्ता है, उस प्रकार धर्मद्रव्यमें गति हेतुत्व नहीं है। क्योंकि धर्मद्रव्य निष्क्रिय होनेसे कदापि गतिरूप नहीं परिणमता है, और जो स्वयं गतिरहित है, वह दूसरेके गतिपरिणामका हेतुकर्त्ता नहीं हो सकता, किन्तु जीव मछलियोंको जलकी तरह पुद्गलके गमनमें उदासीन सहकारी कारण मात्र है। अथवा जैसे गति-पूर्वक स्थिति—परिणत तुरंग, असवारके स्थिति परिणामका हेतु कर्त्ता है, उस प्रकार अधर्म द्रव्य नहीं है। क्योंकि अधर्म द्रव्य निष्क्रिय होनेसे कदापि गतिपूर्वक स्थितिरूप नहीं परिणमता है, और जो स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप नहीं है, वह दूसरेकी गति-पूर्वक स्थितिका हेतुकर्त्ता नहीं हो सकता। किंतु जीव घोडेको पृथ्वीकी तरह पुद्गलकी गतिपूर्वक स्थितिमें उदासीन सहकारी कारण मात्र है।

यदि धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलकी गति और स्थितिमें हेतुकर्त्ता न होते, तो जिनके गति है, उनके गति ही रहती स्थिति नहीं होती और जिनके स्थिति है उनके स्थिति ही रहती गति नहीं होती। किंतु एक ही पदार्थके गति और स्थिति दोनों दीखती हैं. इससे सिद्ध होता है कि, धर्म और अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी गति स्थितिमें हेतुकर्त्ता नहीं हैं, किंतु अपने स्वभावसे ही गति स्थितिरूप परिणमें हुए जीव पुद्गलोंको उदासीन सहकारि कारण मात्र है।

शंका—धर्म और अधर्म द्रव्यके सद्भावमें क्या प्रमाण हैं?

समाधान—आगम और अनुमान प्रमाणसे धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। "अजीवकाया धर्माकाश पुद्गलाः" यह धर्म और अधर्म द्रव्यके सद्भावमें आगम प्रमाण है और अनुमान प्रमाणसे उनकी सिद्धि इस प्रकारसे होती है— अनुमानका लक्षण पहले कह आए हैं कि, साधनसे साध्यके

ज्ञानको अनुमान कहते हैं। जो पदार्थ सिद्ध करना है, उसको साध्य कहते हैं, और साध्यके विना जिसका सद्भाव नहीं हो उसको साधन कहते हैं।

साध्य साधनके इस अविनाभाव संवंधको व्याप्ति कहते हैं। संसारमें कारणके विना कोई भी कार्य नहीं होता है, इसलिए कार्यकी कारणके साथ व्याप्ति है अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान होता है। कारणके दो भेद हैं, एक उपादान कारण, दूसरा निमित्त कारण। जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणमता है, उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे घटका उपादान कारण मृत्तिका (मिट्टी) है। और जो पदार्थ स्वयं तो कार्यरूप नहीं परिणमता है, किन्तु उपादानकारणके कार्यरूप परिणमनमें सहकारी होता है, उनको निमित्तकारण कहते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें दण्ड-चक्रकुम्भकारादि।

निमित्तकारणके दो भेद हैं, एक प्रेरकनिमित्तकारण और दूसरा उदासीन निमित्त कारण। प्रेरक निमित्त कारण उसको कहते हैं, जो प्रेरणा पूर्वक परको परिणमावै। जैसे कुंभकारके चक्रके भ्रमणरूप कार्यमें दंड और कुंभकार प्रेरक निमित्त कारण हैं। जो परको प्रेरणा तो करता नहीं है और उनके परिणमनमें उदासीनतासे सहकारी होता है, उसको उदासीन निमित्त कारण कहते हैं। जैसे चक्रके भ्रमणरूप कार्यमें कीली (जिसके ऊपर रक्खा हुआ चक्र भ्रमण करता है) जो चक्र भ्रमण करै, तो कीली सहकारिणी है, स्वयं दण्डकी तरह चक्रको नहीं घुमाती है। किंतु विना कीलीके चक्र नहीं घूम सकता।

इसही लिये कीली चक्रके भ्रमणमें कारण है। संसारमें एक कार्यकी सिद्धि एक कारणसे नहीं होती है, किंतु कारण कलापकी (समूहकी) एकत्रतासे (सिद्धि) होती है। जैसे दीपकरूप कार्यकी उत्पत्तिमें तेल, वत्ती, दियासलाई आदि अनेक कारण हैं।

ये तेल वत्ती आदिक जुदे जुदे दीपकरूप कार्यके उत्पादनमें समर्थ नहीं हैं, किंतु इन सब कारणोंकी एकत्रता ही दीपकरूप कार्यके उत्पादनमें समर्थ है।

भावार्थ—कारणके दो भेद हैं, एक असमर्थ कारण और दूसरा समर्थ कारण। कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी अनेक पदार्थोंमेंसे जुदा जुदा प्रत्येक पदार्थ असमर्थ कारण है।

जैसे दीपककी उत्पत्तिमें तेल बत्ती आदिक जुदे जुदे असमर्थ कारण हैं। प्रतिबंधक (बाधक) का अभाव होने पर सहकारी समस्त सामग्रीकी एकत्रताको समर्थ कारण कहते हैं।

जैसे दीपककी उत्पत्तिमें तेल बत्ती आदिक समस्त सामग्रीकी एकत्रता और प्रतिबंधक पवनका अभाव समर्थ कारण है। तेल बत्ती आदिक समस्त सहकारी सामग्रीका सद्भाव होने पर भी दीपकके प्रति बंधक पवनका जब तक निरोध नहीं होगा, तब तक दीपकरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये कार्यकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धके अभावको भी कारणता है।

यहां पर कहनेका अभिप्राय यह है कि किसी एक कार्यकी उत्पत्ति किसी एक कारणसे ही नहीं होती है, किंतु एक कार्यकी उत्पत्तिमें अनेक कारणोंकी आवश्यकता होती है। गति और गति पूर्वक स्थिति ये दो कार्य जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें होते हैं। जीव और पुद्गलके गति और गतिपूर्वक स्थितिरूप कार्य अनेक कारणजन्य है। उनमें जीव और पुद्गल तो उपादान कारण हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्त कारण हैं। बस जीव और पुद्गलके गति और गतिपूर्वक स्थितिरुप कार्यसे धर्म और अधर्म द्रव्यरुप निमित्त कारणका अनुमान होता है।

यद्यपि मछली आदिककी गतिमें जलादिक और अश्वादिककी गतिपूर्वक स्थितिमें पृथ्वी आदिक निमित्त कारण हैं, तथापि

पथिकोंके गमनादिक कार्योंमें निमित्त कारणका अभाव होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। अथवा यद्यपि जलादि पदार्थ मछली आदिकके गमनमें निमित्त कारण हैं, किंतु धर्म और अधर्मद्रव्य युगपत् समस्त पदार्थोंकी गतिस्थितिमें साधारण कारण हैं। ये धर्म और अधर्मद्रव्य लोकव्यापी हैं, इसलिये ये ही साधारण कारण हो सकते हैं। अन्य पदार्थ लोकव्यापी न होनेसे साधारण कारण नहीं हो सकते।

शंका—आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है। इसलिये गति और स्थितिमें आकाशद्रव्य साधारण निमित्त कारण होनेसे धर्म और अधर्मद्रव्यकी आवश्यकता नहीं है।

समाधान—यदि आकाशको गति स्थितिमें कारण मानोगे, तो आकाशका लोकके बाहर भी सद्भाव होनेसे जीव पुद्गलका लोकके बाहर भी गमन हो जायगा, और ऐसा होनेपर लोक और अलोकका विभाग सिद्ध नहीं होगा। अथवा धर्म और अधर्मका सद्भाव सिद्ध करनेमें दूसरी अनुमति इस प्रकार है कि धर्म और अधर्म द्रव्य हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि लोक और अलोकके विभागकी अथवा अनुपत्ति है अर्थात् लोक अलोकका विभाग नहीं हो सकता (साधन अर्थात् हेतु) जीवादिक समस्त पदार्थोंकी एकत्रवृत्तिरुप लोक है, और शुद्ध एक आकाश द्रव्यको अलोक कहते हैं।

जीव और पुद्गल स्वभावसे ही गति तथा गतिपूर्वक स्थिति रुप परिणमै हैं। उन गति तथा गतिपूर्वक स्थिति रुप स्वयं परिणत जीव और पुद्गलोंको वहिरंग कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं होय, तो उनके गति और गतिपूर्वक स्थिति परिणामोंको निरर्गलताके कारण अलोकाकाशमें भी होनेसे कौन रोक सकता है? और ऐसा होनेपर लोक और अलोकका विभाग सिद्ध नहीं होगा। परन्तु गुग और पुद्गलके गति तथा गति–

पूर्वक स्थिति परिणामको बाह्य कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव माननेसे लोक और अलोकका विभाग अच्छी तरह सिद्ध होता है।

शंका—लोक और अलोकका विभागरूप हेतु असिद्ध है और असिद्ध हेतु साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं है?

समाधान—लोक और अलोकका विभाग दूसरे अनुमानसे सिद्ध है, इसलिये हेतु असिद्ध नहीं है। वह दूसरा अनुमान इस प्रकार है कि, लोक और अलोकका विभाग है (प्रतिज्ञा), क्योंकि लोक अंत सहित है (हेतु)।

शंका—लोकके सान्ततारूप हेतु भी प्रसिद्ध है?

समाधान—ऐसा नहीं हैं। लोककी सांतता अनुमानांतरसे सिद्ध है।

भावार्थ—लोक अंतसहित है (प्रतिज्ञा) क्योंकि महलादिककी तरह रचनाविशिष्ट है और लोकका रचना विशिष्टपणा प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है। इस प्रकार अनुमान परम्परासे धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। अब आगे षट्स्थानपतितवृद्धि-हानिका स्वरूप लिखा जाता है—

षट्स्थानपतितवृद्धिका सविस्तर स्वरूप तो श्री गोम्मटसार-जीमें कहा है, किंतु यहांपर भी पाठकोंके सुखबोधार्थ संक्षेपसे लिखा जाता है। किसी शक्तिके (गुणके) अविभागी अंशको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं और इन अविभागप्रतिच्छेदोंके कम होनेको हानि और बढ़नेको वृद्धि कहते हैं। यह हानि और वृद्धि छह छह प्रकारसे होती है—१ अनंतभागवृद्धि, २ असंख्यातभाग-वृद्धि, ३ संख्यातभागवृद्धि, ४ संख्यातगुणवृद्धि, ५ असंख्यात-गुणवृद्धि और ६ अनंत गुणवृद्धि। तथा इसही प्रकार १ अनंत भागहानि, २ असंख्यात भागहानि, ३ संख्यात भागहानि, ४

संख्यात गुणहानि, ५ असंख्यात गुणहानि और ६ अनंत गुणहानि । इस ही कारण इसका षटस्थान पतितहानि वृद्धि है ।

इस षटस्थान पतितहानि वृद्धिमें अनंतका प्रमाण समस्त जीवराशिके समान है, असंख्यातका प्रमाण असंख्यात लोक (लोकाकाशके प्रदेशोंसे असंख्यातगुणित) के समान और संख्यातका प्रमाण उत्कृष्ट संख्यातके समान है । किसी विवक्षित गुणके किसी विवक्षित समयमें जितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं उनमें अनंतका भाग देनेसे जो लब्धि आवै, उसको अविभाग प्रतिच्छेदोंके प्रमाणमें मिलानेसे अनंतभाग वृद्धिरुप स्थान होता है ।

जैसे अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रमाण २५६ हो, और अनंतका प्रमाण १६ हो, तो अनंत १६ का भाग अविभागप्रतिच्छेदके प्रमाण २५६ में देनेसे लब्ध १६ को २५६ में मिलानेसे २७२ अनंतभागवृद्धिका स्थान होता है । इस ही प्रकार असंख्यातभाग-वृद्धि और संख्याभागवृद्धिका स्वरूप जानना चाहिये । अविभाग-प्रतिच्छेदोंके प्रमाणको संख्यातसे गुणा करनेसे जो गुणनफल हो, उसको संख्यातगुणवृद्धि कहते हैं । जैसे अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रमाण २५६ को संख्यातके प्रमाण ४ से गुणा करनेसे १०२४ संख्यातगुणवृद्धिका स्थान होता है । इस ही प्रकार असंख्यात-गुणवृद्धि और अनंतगुणवृद्धिका स्वरूप जानना चाहिये ।

अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रमाणमें अनंतका भाग देनेसे जो लब्धि आवै, उसको अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रमाणमेंसे घटानेसे जो शेप रहै, उसको अनन्तभागहानिका स्थान कहते हैं । जैसे अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रणाण २५६ में अनंतके प्रमाण १६ का भाग देनेसे १६ पाये, सो १६ को २५६ में से घटानेसे २४० रहे । इसही प्रकार असंख्यात भागहानि और संख्यात भागहानिका स्वरूप जानना चाहिये । अविभाग प्रतिच्छेदोंके प्रमाणमें संख्या-

तका भाग देनेसे जो लब्धि आवे, उसको संख्यात गुणहानि कहते हैं। जैसे अविभाग प्रतिच्छेदोंके प्रमाण २५६ में संख्यातके प्रमाण ४ का भाग देनेसे ६४ पाये, इसही प्रकार असंख्यात गुणहानि और अनंत गुणहानिका स्वरूप जानना। इस षट्स्थान पतितहानि वृद्धिका खुलासा अभिप्राय यह है कि, जब किसी गुणमें वृद्धि या हानि होती है, तो एक या दो अविभाग प्रतिच्छेदोंकी वृद्धि या हानि नहीं होती, किंतु वृद्धि और हानिके उपर्युक्त छह छह स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानरूप वृद्धि या हानि होती है।

इस प्रकार जैन सिद्धांत दर्पण ग्रंथमें धर्म अधर्म निरूपण नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।
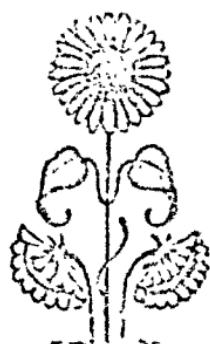
छट्टा अधिकार

आकाश द्रव्य निरूपण

जो जीवादिक समस्त द्रव्योंको युगपत् अवकाश दान देता है, उसको आकाश द्रव्य कहते हैं। यह आकाश द्रव्य सर्वव्यापी अखंडित एक द्रव्य है। यद्यपि समस्त ही सूक्ष्म द्रव्य परस्पर एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परंतु आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योंको युगपत् अवकाश देता है, इस कारण लक्षणमें अति व्याप्ति दोष नहीं आता है। यदि कोई कहै कि, यह अवकाश—दातृत्व-धर्म लोकाकाशमें ही है, अलोकाकाशमें नहीं है। क्योंकि अलोकाकाशमें कोई दूसरा द्रव्य ही नहीं है। इस कारण आकाशके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे जलमें यह शक्ति है कि, हंस जलमें आवै तो उसे अवकाश देवे, परन्तु किसी जलमें यदि हंस आकार प्रवेश न करें, तो उस हंसके अभावमें जलकी अवकाश देनेकी शक्तिका अभाव नहीं हो जाता है। इसी प्रकार अलोकाकाशमें यदि अन्य द्रव्य नहीं हैं, तो अन्य द्रव्योंके अभाव होनेसे आकाशकी अवकाश दातृत्व शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। यह आकाशका स्वभाव है और स्वभावका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये लक्षणमें अव्याप्ति दोप नहीं है। तथा असंभव दोषका भी संभव नहीं है। इसलिये उक्त लक्षण त्रिदोपवर्जित समीचीन है।

शंका—आकाशके सद्भावमें क्या प्रमाण है?

समाधान—जितने शब्द होते हैं, उनका कुछ न कुछ वाच्य अवश्य होता है। आकाश भी एक शब्द है, इसलिये इस आकाश शब्दका जो वाच्य है, वही आकाश द्रव्य है।

शंका—खरविषाण (गधेके सींग) भी शब्द है, तो इसका भी कोई वाच्य अवश्य होगा?

समाधान—खरविषाण कोई शब्द नहीं है, किन्तु एक शब्द खर है और दूसरा शब्द विषाण है। इसलिये खरका भी वाच्य है। परन्तु खरविषाण समासान्त पदका कोई वाच्य नहीं है। अथवा यदि कोई खर (गधा) मरकर वैल होवे, तो भूतनैगम-नयकी अपेक्षासे उस वैलको खर कह सकते हैं। और विषाण उसके हैं ही, इसलिये कथंचित् खरविषाणका भी वाच्य है।

शंका—आकाश कोई द्रव्य नहीं है क्योंकि आकाशमें द्रव्यका लक्षण उत्पादव्यय ध्रौव्य घटित नहीं होता।

समाधान—आकाशद्रव्य सदा विद्यमान है। इसलिये ध्रौव्यमें तो कोई शंका ही नहीं है, रहा उत्पाद और व्यय सो इस प्रकार है कि, समस्त द्रव्योंमें उत्पाद और व्यय दो प्रकारसे होते हैं— १. स्वप्रत्यय और २. परप्रत्यय। समस्त द्रव्योंमें अपने अपने अगुरुलघुगुणके पट्स्थानपतितहानिवृद्धि द्वारा परिणमनको स्वप्रत्यय उत्पादव्यय कहते हैं।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्यमें अपने अपने अगुरुलघुगुणकी पूर्व अवस्थाके त्यागको व्यय कहते हैं और नवीन अवस्थाकी प्राप्तिको उत्पाद कहते हैं। इन व्यय और उत्पादमें किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये इनको स्वप्रत्यय (स्वनिमित्तक) कहते हैं। जीव और पुद्गलद्रव्यमें अनेक प्रकार विभाव व्यञ्जनपर्याय होते रहते हैं। प्रथम समयमें किसी एक पर्यायरूप परिणत जीव अथवा पुद्गलद्रव्यको आकाशद्रव्य अवकाश देता था, किन्तु दूसरे समयमें वही आकाशद्रव्य किसी दूसरी पर्यायरूपपरिणत उस ही जीव अथवा पुद्गलको अवकाश देता है। जब अवकाशयोग्य पदार्थ एक स्वरूप न रहकर अनेकरूप होता रहता है, तो आकाशकी अवकाशदातृत्व शक्तिमें भी अनेकरूपता स्वयंसिद्ध है। यह अनेकरूपता जीव और पुद्गलके निमित्तसे होती है, इस लिये इसको परप्रत्यय कहते हैं।

भावार्थ—अनेक पर्यायरूपपरिणत जीव और पुद्गलको अवकाश देनेवाले आकाशद्रव्यकी आकाशदातृत्वशक्तिकी पूर्व अवस्थाके त्यागको परप्रत्ययव्यय कहते हैं और नवीन अवस्थाकी प्राप्तिको परप्रत्ययउत्पाद कहते हैं। इस ही प्रकार धर्म अधर्म, काल और शुद्ध जीवमें भी स्वप्रत्यय और परप्रत्यय उत्पादव्यय घटित कर लेना चाहिये।

भावार्थ—समस्त द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणके परिणमनसे स्वप्रत्यय-उत्पादव्यय होते हैं और अनेक प्रकार गतिरूप-परिणत जीव और पुद्गलद्रव्यको गमनमें सहकारी धर्मद्रव्यके गतिसहकारित्व गुणमें अनेक प्रकार स्थितिरूपपरिणत जीव और पुद्गलद्रव्यको स्थितिमें सहकारी अधर्मद्रव्यके स्थितिसहकारित्व गुणमें, अनेक प्रकार पर्यायरूपपरिणत जीव और पुद्गलादिको परिणमनसहायी काल द्रव्यके वर्त्तनागुणमें, और अनेक अवस्थारूप परिणत जीव और पुद्गलादि द्रव्योंके जाननेवाले शुद्ध जीवके केवलज्ञानगुणमें परप्रत्यय उत्पाद और व्यय होते हैं।

शंका—शुद्ध जीवके केवलज्ञान गुणमें उत्पादव्यय संभव नहीं होते। क्योंकि केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंको युगपत् जानता है, तथापि प्रथम समयमें जिस पदार्थकी वर्त्तमान पर्यायको वर्त्तमान पर्यायरूप जानता है और आगामी पर्यायको आगामीरूप जानता है, द्वितीय समयमें उस ही पदार्थकी जिस पर्यायको प्रथम समयमें वर्त्तमानपर्यायरूप जाना था, उसको उस दूसरे समयमें भूतपर्यायरूप जानता है, तथा जिस पर्यायको प्रथम समयमें आगामी पर्यायरूप जाना था, उस पर्यायको इस दूसरे समयमें वर्त्तमान पर्यायरूप जानता है। इसलिये केवल-ज्ञानमें उत्पादव्यय अच्छी तरह घटित होते हैं।

यह आकाशद्रव्य यद्यपि निश्चयनयकी अपेक्षासे अखण्डित एक

द्रव्य है, तथापि व्यवहारनयकी अपेक्षासे इसके दो भेद हैं–१. लोकाकाश, और २. अलोकाकाश।

भावार्थ—सर्वव्यापी अनन्त अलोकाकाशके बिलकुल बीचमें कुछ भागमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल ये पांच द्रव्य हैं। सो जितने आकाशमें ये पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, उतने आकाशको लोकाकाश कहते हैं और बाकीके आकाशको अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश लोकाकाशके बाहर समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहा है। वहाँ आकाश द्रव्यके सिवाय दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है इसलिये अलोकाकाशके विषयमें कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है, किन्तु लोकाकाशके विषयमें बहुत कुछ वक्तव्य है इसलिये उसका सविस्तार स्वरूप लिखा जाता है।

जीवादिक पाँच द्रव्य और लोकाकाशके समूहकी 'लोक' संज्ञा है। ये छहों द्रव्य द्रव्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नित्य हैं, इसलिये लोक भी कथंचित् अनित्य है। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अनित्य हैं, इसलिये लोक भी कथंचित् अनित्य है। बहुतसे भोले भाई इस लोकको जीवराशि भिन्न किसी परिकल्पित ईश्वरकृत मानते हैं, और उसकी सिद्धिके लिये अनेक मिथ्या-युक्तियोंकी कल्पना करते हैं, जिनका कि निराकरण किसी आगामी अधिकारमें स्वतंत्र रूपसे किया जायगा।

यहांपर केवल इतना ही कहना बस होगा कि इस लोकका न तो कोई कर्ता है और न कोई हर्ता है किन्तु स्थूलाकारकी अपेक्षासे अनादि निधन नित्य है और सूक्ष्माकारसे अनित्य है। इस लोकके आकारको अनेक प्रकारसे माना है। यहां उन सबकी उपेक्षा करके जैनसिद्धांतके अनुसार लोकका आकार लिखा जाता है।

लोक

लोककी ऊँचाई चौदह राजू, मोटाई (उत्तर और दक्षिण दिशामें) सर्वत्र सातराजू और पूर्व और पश्चिम दिशामें चौड़ाई

मूलमें सातराजू, सातराजूकी ऊँचाई पर एक राजू, साढे दश राजूकी ऊँचाई पर पाँच राजू है। और अन्तमें एक राजू है। गणित करनेसे लोकका क्षेत्रफल ३४३ घन राजू है।

भावार्थ—समस्त लोकके एक एक राजू लम्बे चौड़े और मोटे खण्ड करनेसे ३४३ खण्ड होते हैं। यह लोक सब तरफसे तीन वात (पवन)वलयोंसे वेष्टित है।

भावार्थ—लोक घनोदधि वातवलयसे, घनोदधि, घनवात-वलयसे और घन, तनुवातवलयसे वेष्टित है। तनुवातवलय आकाशके आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है उसको दूसरे आश्रयकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है। घनोदधि वातवलयका वर्ण गोमूत्रके सदृश और तनुवात-वलयका वर्ण अव्यक्त है। इस लोकके बिलकुल बीचमें एक राजू चौडी, एक राजू लम्बी और चौदह राजू ऊँची त्रसनाड़ी है।

भावार्थ—त्रसजीव (द्वीन्द्रियादिक) त्रसनाड़ीमें ही होते हैं। त्रसनाड़ीके +बाहर त्रसजीव नहीं होते।

इस लोकके तीन भाग हैं—१ अधोलोक, २ मध्यलोक और ३ ऊर्ध्वलोक। मूलसे सात राजूकी ऊँचाई तक अधोलोक है, सुमेरुपर्वतकी ऊंचाई (एक लाख चालीस योजन) के समान मध्यलोक है और सुमेरुपर्वतसे ऊपर अर्थात् एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। अब प्रथम ही अधोलोकका वर्णन किया जाता है।

+जिस समय त्रसनाडीके बाहरसे स्थावरजीव स्थावर शरीरको छोडकर त्रसशरीर धारण करनेके लिये विग्रहगतिमें होता है उस समय तथा त्रसनाडीके बाहर उपजनवाले जीवके मारणान्तिक समुद्घात करते समय और कपाट प्रतर और लोकपूर्ण केवल समुद्घातके समय त्रसनाडीके बाहर भी त्रस जीव होते हैं।

अधोलोक

नीचेसे लगाकर मेरुकी जड़ पर्यन्त सात राजू ऊंचा अधोलोक है। जिस पृथ्वीपर अस्मदादिक निवास करते हैं, उस पृथ्वीका नाम चित्रा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्यलोकमें गिनी जाती है। सुमेरु पर्वतकी जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वीके भीतर है तथा निन्यानवै हजार योजन चित्रा पृथ्वीके ऊपर है और चालीस योजनकी चूलिका है। सब मिलकर एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्यलोक है। मेरुकी जड़के नीचेसे अधोलोकका प्रारम्भ है।

सबसे प्रथम मेरु पर्वतकी आधारभूत रत्नप्रभा पृथ्वी है। पृथ्वीका पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओंमें लोकके अन्तपर्यंत विस्तार है, और इस ही प्रकार शेष छह पृथ्वियोंका भी पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण दिशाओंमें लोकके अन्तपर्यंत विस्तार है, मोटाईका प्रमाण सबका भिन्न२ है। रत्नप्रभा पृथ्वीकी मोटाई एक लाख ८० हजार योजन है। रत्नप्रभा पृथ्वीके नीचे पृथ्वीको आधारभूत घनोदधि घन और ×तनुवातवलय हैं। तनुवातवलयके नीचे कुछ दूर तक केवल आकाश है।

आगे चलकर शर्कराप्रभा नामक दूसरी पृथ्वी है, जिसकी मोटाई वत्तीस हजार योजन है। मेरुकी जड़से शर्कराप्रभा पृथ्वीके अन्ततक एक राजू है, जिसमेंसे दोनों पृथ्वियोंकी मोटाई दो लाख वारह हजार योजन घटानेसे दोनों पृथ्वियोंका अंतर निकलता है। शर्कराप्रभाके नीचे कुछ दूरतक केवल आकाश है, जिसके आगे अट्ठाईस हजार योजन मोटी वालुकाप्रभा तीसरी

×इस ही प्रकार शेष छह पृथ्वियोंके नीचे भी वीस वीस हजार योजन मोटे तीन वातवलय समझना।

पृथ्वी है। दूसरी पृथ्वीके अन्तसे तीसरी पृथ्वीके अन्ततक एक राजू है।

इस ही प्रकार आगे भी है। अर्थात् तीसरीके अंतसे चौथीके अंततक, चौथीके अन्तसे पांचवींके अन्ततक, पांचवींके अन्तसे छट्ठीके अन्ततक और छट्ठीके अन्तसे सातवींके अन्ततक एक एक राजु है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी २४००० योजन मोटी, पांचवीं धूमप्रभा २०००० योजन मोटी, छट्ठी तमःप्रभा १६००० योजन मोटी और सातवीं महतमःप्रभा ८००० योजन मोटी है। सातवीं पृथ्वीके नीचे एक राजु प्रमाण आकाश निगोदादिक जीवोंसे भरा हुआ है। वहां कोई पृथ्वी नहीं है। इन सातों पृथ्वियोंके क्रमसे धर्मा, वंशा, मेघा, अन्जना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये भी अनादि प्रसिद्ध नाम हैं।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—१ खरभाग, २ पंकभाग, और ३ अब्बहुलभाग। खरभागकी मोटाई १६००० योजन, पंकभागकी मोटाई ८४००० योजन और अब्बहुल भागकी मोटाई ८०००० योजन है।

जीवोंके दो भेद हैं, संसारी और मुक्त। जिनमेंसे मुक्तजीव लोकके शिखरपर निवास करते हैं और संसारी जीवोंका निवास-क्षेत्र समस्त लोक है।

संसारी जीवोंके चार भेद हैं—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी। देवोंके चार भेद हैं—१ भवनवासी, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिषी, और ४ वैमानिक। भवनवासियोंके दश भेद हैं—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युतकुमार, ४ सुवर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार, ९ द्वीपकुमार और १० दिक्कुमार।

व्यन्तरोंके आठ भेद हैं—१ किन्नर, २ किंपुरुष, ३ महोरग, ४ गंधर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत, और

८ पिशाच। पहली पृथ्वीके खर भागमें असुरकुमारको छोड़कर शेष नव प्रकारके भवनवासी देव तथा राक्षस भेदको छोड़कर शेष सप्त प्रकारके व्यन्तरदेव निवास करते हैं। पंकभागमें असुरकुमार और राक्षसोंके निवास स्थान हैं और अब्बहुल भाग तथा शेषकी छह पृथ्वियोंमें नारकियोंका निवास है।

नारकियोंकी निवासरूप सातों पृथ्वियोंमें भूमिमें तलघरोंकी तरह ४९ पटल हैं।

भावार्थ—पहली पृथ्वीके अब्बहुल भागमें १३, दूसरी पृथ्वीमें ११, तीसरी पृथ्वीमें ९, चौथीमें ७, पांचवींमें ५, छट्ठीमें ३, और सातवी पृथ्वीमें एक पटल है। ये पटल इन भूमियोंके ऊपर नीचेके एक एक हजार योजन छोड़कर समान अंतर पर स्थित हैं। अब्बहुल भागके १३ पटलोंमें से पहले पटलका नाम सीमन्तक पटल है, इस सीमंतक पटलमें सबके मध्यमें मनुष्य लोकके समान ४५ लक्ष योजन चौड़ा गोल (कूपवत्) इन्द्रकबिल (नरक) है। चारों दिशाओंमें असंख्यात योजन चौड़े उनचास उनचास श्रेणिबद्ध नरक हैं और चारों विदिशाओंमें अडतालीस अडतालीस असंख्यात योजन चौड़े श्रेणीबद्ध नरक हैं और दिशा विदिशाओंके बीचमें प्रकीर्णक (फुटकर) नरक हैं। जिनमें कोई संख्यात योजन चौड़े हैं और कोई असंख्यात योजन चौड़े हैं। प्रत्येक पटलके प्रति श्रेणिबद्ध नरकोंकी संख्यामें एक एक कमती होता जाता हैं। और अंतके उनचासवें पटलमें चारों दिशाओंमें एक एक श्रेणीबद्ध नरक है तथा विदिशाओंमें एक भी श्रेणीबद्ध नरक नहीं है और न कोई प्रकीर्णक नरक है। प्रथम पृथ्वीके अब्बहुल भागमें तीस लाख नरक हैं, दूसरी पृथ्वीमें पचीस लाख, तीसरी पृथ्वीमें पंद्रह लाख, चौथी पृथ्वीमें दश लाख, पांचवीं पृथ्वीमें तीन लाख, छट्ठी पृथ्वीमें पांच कम एक लाख और सातवी पृथ्वीमें पांच नरक हैं। सातों पृथ्वियोंके इंद्रक श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक

नरकोंका जोड़ चौरासी लाख है। इन ही नरकोंमें नारकी जीवोंका निवास है।

पहली पृथ्वीके पहले पटलमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई तीन हाथ है, द्वितीयादिक पटलोंमें क्रमसे वृद्धि होकर पहली पृथ्वीके तेरहवें पटलमें सात धनुष और सवा तीन हाथकी ऊंचाई है। पहली पृथ्वीमें जो उत्कृष्ट ऊंचाई है, उससे किंचित् अधिक दूसरी पृथ्वीके नारकियोंकी जघन्य ऊंचाई है। इस ही प्रकार द्वितीयादिक पृथिवियोंमें जो उत्कृष्ट उत्सेध (ऊंचाई) है, वही किंचित् अधिक सहित तृतीयादिक पृथिवियोंमें जघन्य देहोत्सेध (शरीरकी ऊंचाई) है। पहली पृथ्वीके अंतिम इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट उत्सेध है, द्वितीय पृथ्वीके अंतिम इन्द्रकमें उससे दुगना उत्सेध है और इस ही क्रमसे दुगना करते करते सातवीं पृथ्वीमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई पांचसौ धनुप है। पहली पृथ्वीमें नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है, उत्कृष्ट आयु एक सागर है। प्रथमादिक पृथ्वियोंसे जो उत्कृष्ट आयु है वही किंचित् अधिक सहित द्वितीयादिक पृथ्वियोंमें जघन्य आयु है। द्वितीयादिक पृथ्वियोंमें क्रमसे तीन, सात, दश, सत्रह, वावीस और तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है।

नारकी, मरण करके नरक और देवगतिमें नहीं उपजते, किंतु मनुष्य और तिर्यंच गतिमें ही उपजते हैं और इसही प्रकार मनुष्य और तिर्यंच ही मरकर नरक गतिमें उपजते हैं। देव-गतिसे मरण करके कोई जीव नरकमें उत्पन्न नहीं होते। असंज्ञी पंचेन्द्री (मन रहित) जीव मरकर पहले नरक तक ही जाते हैं आगे नहीं जाते। सरीसृप जातिके जीव दूसरी पृथ्वी तक ही आते जाते हैं, तीसरे नरक तक ही जाते हैं, सर्प चौथे नरक तक ही जाते हैं, सिंह पाँचवें नरक तक ही जाते हैं, स्त्री छट्ठे

नरक तक जाती है और कर्मभूमिके मनुष्य और मत्स्य सातवें नरक तक जाते हैं, भोगभूमिके जीव नरकोंको नहीं जाते किन्तु देव ही होते हैं।

यदि कोई जीव निरन्तर नरकको जाय, तो पहले नरकमें आठवीं वार तक, दूसरे नरकमें सातवार तक, तीसरे नरकमें छहवार तक, चौथे नरकमें पाँचवार तक, पाँचवें नरकमें चारवार तक, छट्ठे नरकमें तीनवार तक और सातवें नरकमें दोवार तक निरन्तर जा सकता है, अधिक वार नहीं जा सकता। किन्तु जो जीव सातवें नरकसे आया है, उसको सातवें अथवा किसी और नरकमें अवश्य जाना पड़ता है, ऐसा नियम है।

सातवें नरकसे निकल कर मनुष्य गति नहीं पाता, किन्तु तिर्यंच गतिमें अव्रती ही उपजता है। छट्ठे नरकसे निकले हुए जीव संयम (मुनिका चरित्र) धारण नहीं कर सकते। पांचवें नरकसे निकले हुए जीव मोक्षको नहीं जा सकते। चौथी पृथ्वीसे निकले हुये तीर्थंकर नहीं होते, किन्तु पहले दूसरे और तीसरे नरकसे निकले हुए तीर्थंकर हो सकते हैं। नरकसे निकले हुए जीव बलभद्र नारायण प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नहीं होते।

पापके उदयसे यह जीव नरकगतिमें उपजता है, जहां कि नानाप्रकारके भयानक तीव्र दुःखोंको भोगता है। पहली चार पृथ्वी तथा पांचवींके तृतीयांश नरकोंमें (बिलोंमें) उष्णताकी तीव्रवेदना है तथा नीचेके नरकोंमें शीतकी तीव्रवेदना है। तीसरी पृथ्वीपर्यन्त असुरकुमार जातिके देव आकर नारकियोंको परस्पर लडाते हैं। नारकियोंका शरीर अनेक रोगोंसे सदा ग्रसित रहता है, और परिणामोंमें नित्य क्रूरता बनी रहती है। नरकोंकी पृथ्वी महा दुर्गन्ध और उपद्रव सहित होती है, नारकी जीवोंमें परस्पर जाति विरोध होता है। परस्पर एक

दूसरेको नाना प्रकारके भयानक घोर दुःख देते हैं। छेदन भेदन ताडन मारण आदि नाना प्रकारकी घोर वेदनाओंको भोगते हुए निरन्तर दुःसह दुःखका अनुभव करते रहते हैं।

कोई किसीको कोल्हूमें पेलता है, कोई गरम लोहेकी पुतलीसे आलिंगन कराता है तथा वज्राग्निमें पचाता है, अथवा पीपके कुण्डमें पटकता है।

वहुत कहनेसे क्या? नरकके एक समयके दुःखको सहस्र जिह्वावाला भी वर्णन नहीं कर सकता। नरकमें समस्त कारण क्षेत्र स्वभावसे ही दुःखदायक होते हैं। एक दूसरेको देखते ही कुपित हो जाते हैं। जो अन्य भवमें मित्र था, वह भी नरकमें शत्रु भावको प्राप्त होता है। जितनी जिसकी आयु है उसको उतने काल पर्यन्त ये सब दुःख भोगने ही पड़ते हैं। क्योंकि नरकमें अकाल मृत्यु नहीं है।

जिस जीवने नरक आयुकी जितनी स्थिति वांधी है, उतने वर्ष पर्यन्त उसको नरकमें रहना ही पडता है। यहां इतना विशेष जानना कि, जिस जीवने आगामी भवकी नरकआयु वांधी है उस जीवके वर्त्तमान (मनुष्य या तिर्यंच) भवमें नरका-युकी स्थिति हीनाधिक हो सकती है, किन्तु नरक आयुकी स्थिति उदय आनेके पीछे हीनाधिक नहीं हो सकती। महापापोंके सेवन करनेसे यह जीव नरकको जाता है जहां चिरकालपर्यन्त घोर दुःख भोगने पडते हैं। इसलिये जो महाशय इन नरकोंके घोर दुःखोंसे भयभीत हुए हों, वे जूआ चोरी मद्य मांस वेश्या परस्त्री तथा शिकार आदिक महापापोंको दूर हीसे छोड देवें।

अब आगे संक्षेपसे मध्यलोकका कथन करते हैं—

मध्यलोक

अधोलोकसे ऊपर एक राजू लम्बा एक राजू चौड़ा और एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्य लोक है। इस मध्य लोकके

बिल्कुल बीचमें गोलाकार एक लक्ष योजन व्यासवाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपको खाईकी तरह वेढे हुए गोलाकार लवण समुद्र है। इस लवण समुद्रकी चौड़ाई सर्वत्र दो लक्ष योजन है। पुनः लवण समुद्रको चारों तरफसे वेढ़े हुए गोलाकार धातुकीखण्ड द्वीप है, जिसकी चौड़ाई सर्वत्र चार लक्ष योजन है। धातुकी-खण्डको चारों तरफसे वेढ़े हुए आठ लक्ष योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है। तथा कालोदधि समुद्रको चारों तरफसे वेढ़े हुए सोलह लक्ष योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस ही प्रकारसे दूने दूने विस्तारको लिये परस्पर एक दूसरेको वेढे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। अंतमें स्वयंभूरमण समुद्र है। चारों कोनोंमें पृथ्वी है। पुष्करद्वीपके बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे पुष्कर द्वीपके दो भाग हो गये हैं।

जम्बूद्वीप धातुकी खंड और पुष्करार्द्ध, इस प्रकार ढाईद्वीपमें मनुष्य रहते हैं। ढाई द्वीपके बाहर मनुष्य नहीं हैं तथा तिर्यंच समस्त मध्यलोकमें निवास करते हैं। स्थावर जीव समस्त लोकमें भरे हुए हैं। जलचर जीव लवणोदधि कालोदधि और स्वयंभू-रमण इन तीन समुद्रोंमें ही होते हैं, अन्य समुद्रोंमें नहीं।

जम्बूद्वीप एकलक्ष योजन चौड़ा गोलाकार है। इस जम्बूद्वीपमें पूर्व और पश्चिमदिशामें लम्बायमान दोनों तरफ पूर्व और पश्चिम समुद्रको स्पर्श करते हुए १ हिमवन्, २ महाहिमवन्, ३ निषध, ४ नील, ५ रुक्मि और ६ शिखरी, इस प्रकार छह कुलाचल (पर्वत) हैं, इन कुलाचलोंके निमित्तसे सात भाग हो गये हैं। दक्षिण दिशाके प्रथम भागका नाम भरतक्षेत्र, द्वितीय भागका नाम हैमवत और तृतीय भागका नाम हरिक्षेत्र है। इसही प्रकार उत्तर दिशाके प्रथम भागका नाम ऐरावत, द्वितीय भागका नाम हैरण्यवत और तृतीय भागका नाम रम्यकक्षेत्र है। मध्य भागका नाम विदेहक्षेत्र है। भरत क्षेत्रकी चौडाई ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन है

अर्थात् जम्बूद्वीपकी चौडाईके एक लक्ष योजनके १९० भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है। हिमवत् पर्वतकी आठ भाग प्रमाण, हरि-क्षेत्रकी १६ भाग प्रमाण और निषध पर्वतकी ३२ भाग प्रमाण है। मिलकर ६३ भाग प्रमाण हुए। तथा इसही प्रकार उत्तर दिशामें ऐरावत क्षेत्रसे लगाकर नील पर्वततक ६३ भाग हैं। सब मिलकर १२६ भाग हुए। तथा मध्यका विदेहक्षेत्र ६४ भाग प्रमाण है। ये सब भाग मिलकर जम्बूद्वीपकी चौड़ाई १९० भाग अथवा एक लक्ष योजन प्रमाण होती है।

हिमवन् पर्वतकी ऊंचाई १०० योजन, महाहिमवन्की २०० योजन, निषधकी ४००, नीलकी ४००, रुक्मीकी २००, और शिखरीकी ऊँचाई १०० योजन है। इन सब कुलाचलोंकी चौड़ाई ऊपर नीचे तथा मध्यमें समान है। इन कुलाचलोंके पसवाड़ोंमें अनेक प्रकारकी मणियाँ हैं। ये हिमवनादिक छहों पर्वत क्रमसे सुवर्ण, चांदी, तपे हुए सुवर्ण, वैडूर्य, चांदी और सुवर्णके हैं। इन हिमवनादि छहों कुलाचलोंके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक संज्ञक छह कुण्ड हैं। इन पद्मादिक कुण्डोंकी क्रमसे लम्बाई १०००।२०००।४०००।४०००। २००० और १००० योजन है। चौड़ाई ५००।१०००।२०००। २०००।१००० और ५०० योजन हैं। गहराई १०।२०।४०।४० २० और १० योजन है। इन पद्मादिक सब कुण्डोंमें एक एक कमल है, जिनकी ऊंचाई तथा चौड़ाई १।२।४।४।२ और १ योजन प्रमाण है। इन कमलोंमें पल्योपम आयुवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी जातिकी देवियां सामानिक और परिषद् जातिके देवोंसहित क्रमसे निवास करती हैं।

इन भरतादि सात क्षेत्रोंमें एक एकमें दो दोके क्रमसे गंगा सिन्धु रोहित् रोहितास्या हरित् हरिकान्ता शीता शीतोदा नारी नरकान्ता सुवर्णकूला रूप्यकूला रक्ता और रक्तोदा ये १४ चौदह

नदी हैं। इन सात युगलोंमेंसे गंगादिक पहली पहली नदियां पूर्वसमुद्रमें और सिन्ध्वादिक पिछली पिछली नदियां पश्चिम-समुद्रमें प्रवेश करती हैं। गंगा सिन्धु रोहितास्या ये तीन नदी पद्मकुण्डमेंसे निकली हैं। रक्ता रक्तोदा और सुवर्णकूला पुण्डरीक कुण्डमेंसे निकली हैं। शेष चार कुण्डोंमेंसे शेष आठ नदियां निकली हैं, अर्थात् एक एक कुण्डमेंसे एक एक पूर्वगामिनी और एक एक पश्चिमगामिनी इस प्रकार दो दो नदियां निकली हैं। गंगा सिन्धु इन दो महानदियोंका परिवार चौदह चौदह हजार क्षुल्लक नदियोंका है। रोहित् रोहितास्या प्रत्येकका परिवार अट्ठाईस अट्ठाईस हजार नदियां हैं।

इस ही प्रकार शीता शीतोदापर्यन्त दूना दूना और आगे आधा आधा परिवार नदियोंका प्रमाण है। विदेहक्षेत्रके बीचोंबीच सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वतकी एक हजार योजन भूमिमें जड़ है। तथा निन्यानवें हजार योजन भूमिके ऊपर ऊंचाई है और चालीस योजनकी चूलिका है। यह सुमेरुपर्वत गोलाकार भूमिपर दश हजार योजन चौड़ा तथा ऊपर एक हजार योजन चौड़ा है। सुमेरुपर्वतके चारोंतरफ भूमिपर भद्रशाल-वन है। यह भद्रशालवन पूर्व और पश्चिमदिशामें बावीस बावीस हजार योजन और उत्तर दक्षिण दिशामें ढाई ढाई सौ योजन चौड़ा है। पृथ्वीसे पांचसौ योजन ऊंचा चलकर सुमेरुकी चारों तरफ प्रथम कटनीपर पांचसौ योजन चौड़ा नंदनवन है। नंदनवनसे बासठ हजार पांचसौ योजन ऊंचा चलकर सुमेरुकी चारों तरफ द्वितीय कटनीपर पांचसौ योजन चौड़ा सौमनसवन है। सौमनसवनसे छत्तीस हजार योजन ऊंचा चलकर सुमेरुके चारों तरफ तीसरी कटनीपर चारसौ चौरानवै योजन चौड़ा पांडुकवन है। मेरुकी चारों विदिशाओंमें ार गजदंत पर्वत हैं। दक्षिण और उत्तर भद्रशाल तथा निषध और नीलपर्वतके बीचमें

देवकुरु और उत्तरकुरु हैं। मेरुकी पूर्वदिशामें पूर्वविदेह और पश्चिमदिशामें पश्चिमविदेह है। पूर्वविदेहके बीचमें होकर सीता और पश्चिमविदेहमें होकर सीतोदा नदी पूर्व और पश्चिमसमुद्रको गई हैं। इस प्रकार दोनों नदियोंके दक्षिण और उत्तर तटकी अपेक्षासे विदेहके चार भाग हैं। इन चारों भागोंमेंसे प्रत्येक भागमें आठ आठ देश हैं। इन आठ देशोंका विभाग करनेवाले वक्षारपर्वत तथा विभंगा नदी हैं।

भावार्थ—१ पूर्वभद्रशालवनकी वेदी, २ वक्षार, ३ विभंगा, ४ वक्षार, ५ विभंगा, ६ वक्षार, ७ विभंगा, ८ वक्षार और देवारण्यकी वेदी इसप्रकार नव सीमाओंके बीचबीचमें आठआठ देश हैं। इसप्रकार विदेहक्षेत्रमें ३२ देश हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमें विजयार्द्ध पर्वत है। इन पर्वतोंमें दो दो गुफा हैं, जिनमें होकर गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा नदी निकली हैं। इस प्रकार भरत और ऐरावतके छह छह खण्ड हो गये हैं। इनमेंसे एक एक आर्यखण्ड और पांच पांच म्लेच्छखण्ड हैं।

जम्बूद्वीपसे दूनी रचना धातुकी खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीपमें है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि, धातुकी खण्ड और पुष्करार्द्ध इन दोनों द्वीपोंकी पूर्व और पश्चिम दिशामें दो दो मेरु हैं अर्थात् दो मेरु धातुकी खण्डमें और पुष्करार्द्धमें हैं। जिस प्रकार क्षेत्र कुलाचल द्रह कमल और नदी आदिकका कथन जम्बूद्वीपमें है, उतना ही उतना प्रत्येक मेरुका समझना।

भावार्थ—जम्बूद्वीपसे दूनी रचना धातुकी खण्डकी और धातुकी खण्डके समान रचना पुष्करार्द्धकी है। इनकी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई आदिकका कथन विस्तार भयसे यहां नहीं लिखा है। जिन्हें सविस्तर जाननेकी इच्छा हो, उन्हें त्रैलोक्यसार ग्रन्थसे जानना चाहिये।

मनुष्यलोकके भीतर पंद्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमि हैं।

भावार्थ—एक एक मेरु सम्बन्धी भरत, ऐरावत, तथा देवकुरु और उत्तरकुरुको छोड़कर विदेह, इसप्रकार तीन तीन तो कर्मभूमि और हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत ये छह छह भोगभूमि हैं। पांचों मेरुकी मिलकर १५ कर्मभूमि और ३० भोगभूमि हैं। जहां असि मसि कृष्यादि षट् कर्मकी प्रवृत्ति हो, उसको कर्मभूमि कहते हैं और जहां कल्पवृक्षों द्वारा भोगोंकी प्राप्ति हो, उसको भोगभूमि कहते हैं।

भोगभूमिके तीन भेद हैं—१ उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रोंमें जघन्य भोगभूमि है। हरि और रम्यक क्षेत्रोंमें मध्यम भोगभूमि और देवकुरु तथा उत्तरकुरुमें उत्कृष्ट भोगभूमि है। मनुष्य लोकसे बाहर सर्वत्र जघन्य भोगभूमिकीसी रचना है किन्तु अंतिम स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्द्धमें तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें तथा चारों कोनोंकी पृथिवियोंमें कर्मभूमिकीसी रचना है।

द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भोगभूमिमें नहीं होते अर्थात् पंद्रह कर्मभूमि और उत्तरार्द्ध अन्तिम द्वीप तथा समस्त अन्तिम समुद्रोंमें भी भवनवासी और व्यंतरदेव निवास करते हैं।

यद्यपि कल्पकालका कथन कालाधिकारमें करना चाहिये था, परंतु कर्मभूमि और भोगभूमिसे उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इस कारण प्रसंगवश यहां कुछ कल्पकालका कथन किया जाता है। वीस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरके समयोंके समूहको कल्प कहते हैं। कल्पकालके दो भेद हैं एक अवसर्पिणी और दूसरा उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दोनों ही कालोंका प्रमाण दश दश कोड़ाकोड़ी सागरका है।

अवसर्पिणीकालके छह भेद हैं—१ सुषमासुषमा, २ सुषमा,

३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमादुःषमा। उत्सर्पिणीके भी छह भेद, विपरीत क्रमसे हैं—

१ दुःषमा दुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमासुषमा, ४ सुषमादुःषमा, ५ सुषमा, और ६ सुषमा सुषमा। सुषमा सुषमाका प्रमाण चार कोडाकोडी सागर है। सुषमाका प्रमाण तीन कोडाकोडी सागर है। सुषमा दुःषमाका प्रमाण दो कोडाकोडी सागर है। दुःषमासुषमाका प्रमाण ४२००० वर्ष घाटि एक कोडाकोडी सागर है।

दुःषमाका प्रमाण २१००० वर्ष है, तथा दुःषमा दुःषमाका भी प्रमाण २१००० वर्ष है। पांच मेरु संवंधी पांच भरतक्षेत्र तथा पांच ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके छह २ कालोंके द्वारा तहां रहनेवाले जीवोंके आयुः शरीर वल वैभवादिकको हानि वृद्धि होती है।

भावार्थ—अवसर्पिणीके छहों कालोंमें क्रमसे वटते हैं। और उत्सर्पिणीके छहों कालोंमें क्रमसे वढ़ते हैं। अवसर्पिणी कालके प्रथम कालकी आदिमें जीवोंकी आयु तीन पल्य प्रमाण है और अन्तमें दो पल्य प्रमाण है। दूसरे कालके आदिमें दो पल्य और अन्तमें एक पल्य प्रमाण है। तीसरे कालकी एक पल्य और अन्तमें एक कोटि*पूर्व वर्ष प्रमाण है। चतुर्थ कालके आदिमें कोटिपूर्व और अन्तमें १२० वर्ष है। पांचवें कालके आदिमें १२० वर्ष, अन्तमें २० वर्ष है। छठे कालके आदिमें २० वर्ष और अन्तमें १५ वर्ष है।

यह सव कथन उत्कृष्टकी अपेक्षासे है। वर्तमानमें कहीं कहीं एकसौ वीस वर्षसे अधिक आयु भी सुननेमें आती है सो

* चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है।

हुण्डावसर्पिणीके निमित्तसे है। अनेक कल्प काल बीतने पर एक हुण्डाकाल आता है इस हुण्डाकल्पमें कई बातें विशेष होती हैं। जैसे चक्रवर्तीका अपमान, तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म और शलाका पुरुषोंकी संख्यामें हानि। उस ही प्रकार आयुके सम्बन्धमें भी यह हुण्डाकृत विशेषता है।

पहले कालकी आदिमें मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई तीन कोश, अन्तमें दो कोश है। दूसरेकी आदिमें दो कोश, अन्तमें एक कोश है। तीसरेकी आदिमें एक कोश, अन्तमें पांचसौ धनुष है। चौथे कालकी आदिमें पांचसौ धनुष, अन्तमें सात हाथ है। पांचवेंके आदिमें सात हाथ, अन्तमें दो हाथ है। छठेके आदिमें दो हाथ, अन्तमें एक हाथ है। इस ही प्रकार बल वैभवादिकका क्रम जानना।

भोगभूमियोंको भोजन वस्त्र आभूषण आदि समस्त भोगोपभोगकी सामग्री दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे मिलती है। भोगभूमिमें पृथ्वी दर्पण समान मणिमयी छोटे छोटे सुगंधित तृणसंयुक्त है। भोगभूमिमें माताके गर्भसे युगपत् स्त्रीपुरुषका युगल उत्पन्न होता है। भोगभूमिमें बालक ४९ दिनमें क्रमसे यौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। भोगभूमिया सदाकाल भोगोंमें आसक्त रहते हैं तथा आयुके अन्तमें पुरुष छींक लेकर और स्त्री जंभाई लेकर मरणको प्राप्त होते हैं। और उनका शरीर शरत्कालके मेघकी तरह विलुप्त हो जाता है। ये भोगभूमिया सब ही मरणके पश्चात् नियमसे देवगतिको जाते हैं। प्रथम कालकी आदिमें उत्कृष्ट भोगभूमि है। फिर क्रमसे घटकर द्वितीय कालकी आदिमें मध्यम तथा तीसरेकी आदिमें जघन्य भोगभूमि है। पुनः क्रमसे घटकर तीसरेके अन्तमें कर्मभूमिका प्रवेश होता है।

तीसरे कालमें जब पल्यका आठवां भाग बाकी रहता है, तब मनुष्योंमें क्रमसे १४ कुलकर उत्पन्न होते हैं। इन कुलकरोंमें

कई जातिस्मरण तथा कई अवधिज्ञान संयुक्त होते हैं। ये कुलकर मनुष्योंके अनेक प्रकारके भय दूर करके उनको उत्तम शिक्षा देते हैं।

चतुर्थकालमें ६३ शलाका (पदवीधारक) पुरुष होते हैं। जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र होते हैं। इन ६३ शलाका पुरुषोंका सविस्तर कथन प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंसे जानना।

यहां इतना विशेष है, कि इस दुर्गम संसारसे मुक्ति इस चतुर्थकालमें ही होती है। चौवीसवें तीर्थंकरके मोक्ष जानेसे ६०५ वर्ष ५ मास पीछे पंचमकालमें शक राजा होता है। इस शक राजाके ३९४ वर्ष ७ मास पीछे कल्की राजा होता है। इस कल्कीकी आयु ७० वर्षकी होती है। जिसमें ४० वर्ष राज्य करता है। तथा धर्मविमुख आचरणमें तल्लीन रहता है। कल्कीका पुत्र धर्मके सन्मुख सदाचारी होता है। इस प्रकार एक एक हजार वर्ष पीछे एक एक कल्की राजा होता है। तथा इन कल्कियोंके बीचबीचमें एक एक उपकल्की होता है। यहां इतना विशेष जानना कि मुनि आर्यिका श्रावक, श्राविका चार प्रकार जिन-धर्मके संघका सद्भाव पंचमकाल पर्यन्त ही है!

भावार्थ—पंचमकालके अन्तमें धर्म अग्नि और राजा इन तीनोंका नाश होकर छठे कालमें मनुष्य पशुकी तरह नग्न धर्मरहित मांसाहारी होते हैं। इस छठेकालमें मरे हुये जीव नरक और तिर्यंचगतिको जाते हैं। तथा नरक और तिर्यंच इन दो गतिमेंसे ही मरण करके इस छटे कालमें जन्म लेते हैं। इस छठेकालमें मेघवृष्टि वहुत थोड़ी होती है तथ पृथ्वी, रत्नादिक सारवस्तुरहित होती है। और मनुष्य तीव्रकषाययुक्त होते हैं। छठेकालके अन्तमें संवर्तक नामक वड़े जोरका पवन चलता है,

जिससे पर्वत वृक्षादिक चूर२ हो जाते हैं। तथा वहां वसनेवाले कुछ जीव मर जाते अथवा कुछ मूर्छित हो जाते हैं। उस समय विजयार्ध पर्वत तथा महागंगा और महासिन्धु नदियोंकी वेदियोंके छोटे छोटे विलोंमें उन वेदी और पर्वतके निकटवासी जीव स्वयमेव प्रवेश करते हैं। अथवा दयावान् देव और विद्याधर मनुष्ययुगल आदिक अनेक जीवोंको उठाकर विजयार्द्ध पर्वतकी गुफादिक निर्बाधस्थानोंमें ले जाते हैं।

इस छठेकालके अंतमें सात–सात दिन पर्यन्त क्रमसे १ पवन, २ अत्यन्त शीत, ३ क्षाररस, ४ विष, ५ कठोर अग्नि, ६ धूल और ७ धुवां, इस प्रकार ४९ दिनमें सात वृष्टियां होती हैं। जिससे अवशिष्ट मनुष्यादिक जीव नष्ट हो जाते हैं। तथा विष और अग्निकी वर्षासे पृथ्वी एक योजनतक चूर२ हो जाती है। इसहीका नाम महाप्रलय है। यहां इतना विशेष जानना कि, यह महाप्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके आर्यखण्डोंमें ही होता है अन्यत्र नहीं होता है। अब आगे उत्सर्पिणी कालके प्रवेशका अनुक्रम कहते हैं—

उत्सर्पिणीके दु:षमादु:षमा नामक प्रथम कालमें सबसे पहले सात दिन जलवृष्टि, सात दिन दुग्धवृष्टि, सात दिन घृतवृष्टि और सात दिनतक अमृतवृष्टि होती है। जिससे पृथ्वीमें पहले अग्नि आदिककी वृष्टिसे जो उष्णता हुई थी, वह चली जाती है और पृथ्वी कांतियुक्त सचिक्कण हो जाती है और जलादिककी वर्षासे नाना प्रकार लता वेलि विविध औषधि तथा गुल्मवृक्षादिक वनस्पति, उत्पत्ति तथा वृद्धिको प्राप्त होती हैं। इस समय पृथ्वीकी शीतलता तथा सुगन्धताके निमित्तसे पहले जो प्राणी विजयार्द्ध तथा गंगा सिन्धु नदीकी वेदियोंके विलोंमें पहुंच गये थे, वे इस पृथ्वीपर आकर जहां तहां वस जाते हैं। इस कालमें मनुष्य धर्मरहित नग्न रहते हैं और मृत्तिका आदिका आहार

करते हैं। इस कालमें जीवोंकी आयु कायादिक क्रमसे बढ़ते है। इसके पीछे उत्सर्पिणीका दुःषमा नामक दूसरा काल प्रवर्तता है।

इस कालमें जब एक हजार वर्ष अवशिष्ट रहते हैं, तब १६ कुलकर होते हैं। ये कुलकर मनुष्योंको क्षत्रिय आदिक कुलोंके आचार तथा अग्निसे अन्नादिके पचानेका विधान सिखाते हैं। उसके पीछे दुःषमासुषमा नामक तृतीयकाल प्रवर्तता है, जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं। उत्सर्पिणीमें केवल इस ही कालमें मोक्ष होती है। तत्पश्चात् चौथे पांचवें और छठे कालमें भोगभूमि है। जिनमें आयुः कायादिक क्रमसे बढ़ते जाते हैं।

भावार्थ—अवसर्पिणीके १।२।३।४।५।६ कालकी रचना उत्सर्पिणीके ६।५।४।३।२।१ कालकी रचनाके समान है। यहां इतना विशेष जानना कि आयुकायादिककी क्रमसे अवसर्पिणीमें तो हानि होती है और उत्सर्पिणीमें वृद्धि होती है।

देवकुरु और उत्तरकुरुक्षेत्रमें सदाकाल पहले कालकी आदिकी रचना है। दूसरे कालकी आदिकी रचना हरि और रम्यकक्षेत्रमें सदाकाल रहती है। तीसरे कालकी आदिकी रचना हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रमें अवस्थित है। चौथे कालकी आदिकी रचना विदेह क्षेत्रोंमें अवस्थित है। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके पांच पांच म्लेच्छखण्ड तथा विद्याधरोंके निवासभूत विजयार्द्ध पर्वतकी श्रेणियोंमें सदा चौथा काल प्रवर्तता है। यहां इतना विशेष जानना कि, जब आर्यखण्डमें अवसर्पिणीका प्रथम द्वितीय तृतीय तथा उत्सर्पिणीका चतुर्थ पंचम षष्ठ काल वर्तता है, उस समय यहां अवसर्पिणीके चतुर्थ कालके आदिकी अथवा उत्सर्पिणीके तृतीय कालके अन्तकी रचना रहती है। तथा जिस समय आर्यखण्डमें अवसर्पिणीके पंचम और षष्ठ तथा उत्सर्पिणीके प्रथम और द्वितीय कालकी रचना है, उस समय यहां अवसर्पिणीके

चतुर्थ कालके अंतकी अथवा उत्सर्पिणीके तृतीय कालके आदिकी रचना है। और आर्यखण्डमें जिस प्रकार क्रमसे हानिवृद्धियुक्त अवसर्पिणीके चतुर्थ अथवा उत्सर्पिणीके तृतीयकालकी रचना है, उस ही प्रकार यहां भी जानना। आधा स्वयंभूरमण द्वीप तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें और चारों कोनोंकी पृथिवियोंमें पंचमकालके आदिकीसी दुपमा कालकी रचना है। और इनके सिवाय मनुष्यलोकसे बाहर समस्त द्वीपोंमें तथा कुभोगभूमियोंमें तीसरे कालकी आदिकीसी जघन्य भोगभूमिकी रचना है। लवण-समुद्र और कालोदधि समुद्रमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं, जिनमें कुभोग-भूमिकी रचना है। पात्रदानके प्रभावसे यह जीव भोगभूमिमें उपजता है। और कुपात्रदानके प्रभावसे कुभोगभूमिमें जाता है।

इन कुभोगभूमियोंमें एक पल्य आयुके धारक कुमनुष्य निवास करते हैं। इन कुमनुष्योंकी आकृति नानाप्रकार है। किसीके केवल एक जंघा है। किसीके पूंछ है। किसीके सींग है। कोई गूंगे हैं। किसीके बहुत लम्बे कान हैं, जो ओढ़नेके काममें आते हैं। किसीके मुख, सिंह घोडा कुत्ता भैंसा बन्दर इत्यादिकके समान हैं। ये कुमनुष्य वृक्षोंके नीचे तथा पर्वतोंकी गुफाओंमें बसते हैं, और वहांकी मीठी मिट्टी खाते हैं, ये कुभोगभूमिया तथा भोगभूमिया मरकर नियमसे देवगतिमें ही उपजते हैं। इस ही मध्यलोकमें ज्योतिष्क देवोंका निवास है, इसलिये प्रसंगवश यहां संक्षेपसे ज्योतिष्चक्रका वर्णन किया जाता है।

ज्योतिष्क देवोंके सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे इस प्रकार पांच भेद हैं। चित्रा पृथ्वीसे ७९० योजन ऊपर तारे हैं। तारोंसे दश योजन ऊपर सूर्य हैं। और सूर्योंसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं। चन्द्रमाओंसे चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं।

नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुध हैं। बुधोंसे तीन योजन ऊपर शुक्र हैं। शुक्रसे तीन योजन ऊपर गुरु हैं। गुरुसे तीन योजन ऊपर मंगल हैं। और मंगलसे तीन योजन ऊपर शनैश्चर हैं। बुधादिक पांच ग्रहोंके सिवाय तेरासी ग्रह और हैं, जिनमेंसे राहुके विमानका ध्वजादण्ड चन्द्रमाके विमानसे और केतुके विमानका ध्वजादण्ड सूर्यके विमानसे चार प्रमाणांगुल नीचे है। अवशेष इक्यासी ग्रहोंके रहनेकी नगरी बुध और शनिके बीचमें है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि, देवगतिके चार भेदोंमेंसे ज्योतिष्क जातिके देव इन ज्योतिष्क विमानोंमें निवास करते हैं। इस ज्योतिष्क पटलकी मोटाई ऊर्ध्व और अधोदिशामें ११० योजन है। और पूर्व और पश्चिम दिशाओंमें लोकके अन्तमें घनोदधि वातवलयपर्यंत है। तथा उत्तर और दक्षिण दिशामें एक राजू प्रमाण है।

यहां इतना विशेष जानना कि, सुमेरु पर्वतके चारों तरफ ११२१ योजन तक ज्योतिष्क विमानोंका सद्भाव नहीं है। मनुष्य लोकपर्यन्त ज्योतिष्क विमान नित्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, किन्तु जम्बूद्वीपमें ३६, लवण समुद्रमें १३९, धातुकीखण्डमें १०१०, कालोदधिमें ४११२० और पुष्करार्द्धमें ५३२३० ध्रुव तारे (गतिरहित) हैं। और मनुष्य लोकसे वाहर समस्त ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं। अपनी अपनी जातिके ज्योतिष्क विमान समतलमें हैं। अर्थात् उनका ऊपरी भाग आकाशकी एक ही सतहमें हैं। ऊँचे नीचे नहीं है। किन्तु तिर्यक् अन्तर कुछ न कुछ अवश्य है। तारोंमें परस्पर अन्तर एक कोशका सातवां भाग है। मध्यम अन्तर पचास योजन ओर उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है। इन समस्त ज्योतिष्क विमानोंका आकार आधे गोलेके समान है।

भावार्थ—जैसे एक लोहेके गोलेके समान दो खण्ड करके उनमेंसे एक खण्डको इस प्रकारसे स्थापन करें कि, गोल भाग

तो नीचेकी तरफ हो और समतल भाग ऊपरकी तरफ हो। ठीक ऐसा ही आकार समस्त ज्योतिष्क विमानोंका है। इन विमानोंके ऊपर ज्योतिषी देवोंके नगर बसते हैं। ये नगर अत्यन्त रमणीक और जिनमंदिर संयुक्त हैं।

अब आगे इन विमानोंकी चौड़ाई और मोटाईका प्रमाण कहते हैं:—

चन्द्रमाके विमानका व्यास $\frac{५६}{६१}$ योजन (एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे छप्पन भाग) है। सूर्यका विमान $\frac{४८}{६१}$ योजन चौड़ा है। शुक्रका विमान एक कोश और बृहस्पतिका किंचिदून (कुछ कम) एक कोश चौड़ा है। तथा बुध मङ्गल और शनिके विमान आध आध कोश चौड़े हैं। तारोंके विमान कोई पाव कोश कोई आध कोश कोई पौनकोश और कोई एक कोश चौड़े हैं। नक्षत्रोंके विमान एक एक कोश चौड़े हैं। राहू और केतुके विमान किंचिदून एक योजन चौड़े हैं।

समस्त विमानोंकी मोटाई चौड़ाईसे आधी आधी है। सूर्य और चन्द्रमाके बारह बारह हजार किरणें हैं। चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं। तथा सूर्यकी किरणें उष्ण हैं। शुक्रकी कई हजार प्रकाशमान किरणें हैं, शेष ज्योतिषी मंदप्रकाश संयुक्त हैं।

चन्द्रमाके विमानका सोलहवां भाग कृष्णपक्षमें कृष्णरूप और शुक्लपक्षमें शुक्लरूप प्रतिदिन परिणमन करता है। अथवा अन्य आचार्योंका इस विषयमें ऐसा अभिप्राय है कि चन्द्रमाके विमानके नीचे राहुका विमान गमन करता है। उस राहुके विमानकी इस ही प्रकार गति विशेष है कि जो कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक कलाका आच्छादन करता है। तथा शुक्लपक्षमें एक कलाका उद्भावन करता है। राहुके विमानके निमित्तसे छह मासमें एकवार शुक्ल पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण होता है तथा सूर्यके नीचे चलनेवाले केतु विमानके निमित्तसे छह मासमें एकवार अमावस्याको सूर्यग्रहण होता है।

नरलोकमें ज्योतिष्क विमानोंको सिंह हस्ती बैल आदिक नाना प्रकारके आकारोंको धारण करनेवाले वाहकदेव खींचते हैं। चन्द्रमा और सूर्यके सोलह सोलह हजार वाहकदेव हैं। तथा ग्रहोंके आठ आठ हजार, नक्षत्रोंके चार चार हजार और तारोंके दो दो हजार वाहकदेव हैं।

नक्षत्रोंकी अवस्थितिमें इतना विशेष है कि अभिजिव् मूल स्वाती भरणी और कृतिका ये पाँच नक्षत्र क्रमसे उत्तर दक्षिण ऊर्ध्व अधः और मध्य इस प्रकार अवस्थितिको धारण करते हुए गमन करते हैं। चन्द्रमा सूर्य और ग्रह इन तीनके विना समस्त ज्योतिषी एक ही पन्थमें गमन करते हैं।

अब आगे ज्योतिष्क विमानोंकी संख्याका निरूपण किया जाता है:—

जम्बूद्वीपमें दो चन्द्रमा हैं। लवणसमुद्रमें चार, धातुकीखण्डमें १२, कालोदधिमें ४२ और पुष्करार्द्धमें ७२ चन्द्रमा हैं। अर्थात् मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क विमानोंके गमनका अनुक्रम इस प्रकार है कि, प्रत्येक द्वीप वा समुद्रके समान दो दो खण्डोंमें आधे आधे ज्योतिष्क विमान गमन करते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीपके प्रत्येक भागमें एक एक, लवणसमुद्रके प्रत्येक भागमें दो दो, धातुकीखण्डद्वीपके प्रत्येक खण्डमें छह छह, कालोदधिके प्रत्येक खण्डमें इक्कीस इक्कीस और पुष्करार्द्धके प्रत्येक खण्डमें छत्तीस छत्तीस चन्द्रमा हैं।

इसका खुलासा इस प्रकार है कि, जम्बूद्वीपमें एक वलय है (इसमें कुछ विशेष है सो आगे कहा जावेगा) लवणसमुद्रमें दो वलय (परिधि) हैं, धातुकीखण्डमें छह वलय हैं, कालोदधिमें इक्कीस वलय हैं, और पुष्करके पूर्वार्द्धद्वीपमें ३६ वलय हैं। प्रत्येक वलयमें दो दो चंद्रमा हैं। पुष्करद्वीपका उत्तरार्द्ध आठ लक्ष योजनका है, इसलिए उसमें आठ वलय

हैं। पुष्करसमुद्र ३२ लक्ष योजनका है, इसलिए उसमें ३२ वलय हैं। इस ही प्रकार आगे आगेके द्वीप वा समुद्रमें वलयोंका प्रमाण दूना दूना है।

अर्थात् मनुष्यलोकसे बाहर जो द्वीप वा समद्र जितने लक्ष योजन चौड़ा है, उसमें उतने ही वलय हैं। इन समस्त वलयोंमें समान अंतर है। अर्थात् जिस द्वीप वा समुद्रमें जितने वलय हैं, उनसे एक कम अंतरोंका प्रमाण है। तथा अभ्यन्तर वेदीसे प्रथम वलयतक आधा अन्तर और अन्तिम वलयसे बाह्य वेदीतक आधा अन्तर। सब मिलकर अन्तरोंका प्रमाण वलयोंके प्रमाणके समान हुआ। प्रत्येक वलयकी चौड़ाई चन्द्रमाके व्यासके समान $\frac{५६}{६१}$ योजन है। जिसको वलयोंके प्रमाणसे गुणकर गुणनफलको द्वीप वा समुद्रके व्यासमेंसे घटाकर, शेष बचै उसमें वलयोंके प्रमाणका भाग देनेसे वलयोंके अन्तरका प्रमाण आता है। इसको आधा करनेसे अभ्यन्तर बाह्यवेदी और प्रथम तथा अन्तिम वलयके अन्तरका प्रमाण होता है। पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धके प्रथम वलयमें १४४ चन्द्रमा हैं। द्वितीय तृतीयादिक वलयोंमें चार चार अधिक हैं। पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धमें सब वलयोंके चन्द्रमाओंका जोड़ १२६४ होता है। पुष्कर समुद्रके प्रथम वलयमें २८८ चन्द्रमा हैं। अर्थात् पुष्करके उत्तरार्द्धके वलयमें स्थित चन्द्रमाओंसे दूने हैं। इस ही प्रकार आगे स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्त पूर्व पूर्व द्वीप वा समुद्रके प्रथम वलयस्थित चन्द्रमाओंके प्रमाणसे उत्तर उत्तर द्वीप वा समुद्रके प्रथम वलयस्थित चन्द्रमाओंका प्रमाण दूना है। तथा प्रथम प्रथम वलयोंके चन्द्रमाओंसे द्वितीयादिक वलयस्थित चन्द्रमाओंकी संख्या सर्वत्र चार चार अधिक है। पुष्करसमुद्रमें ३२ वलय है। जिनके समस्त चन्द्रमाओंका जोड़ ११२०० हैं। इससे अगले द्वीपमें ६४ वलय हैं, जिनके समस्त चन्द्रमाओंका प्रमाण ४४९२८ है।

भावार्थ—पूर्व द्वीप वा समुद्रके चंद्रमाओंके प्रमाणसे उत्तरोत्तर द्वीप वा समुद्रके चन्द्रमाओंका प्रमाण चौगुना है। परन्तु इतना विशेष जानना कि, उत्तर द्वीप वा समुद्रके वलयोंके प्रमाणसे दूना प्रमाण उस चौगुनी संख्यामें और मिलाना चाहिए। जैसे पूर्व पुष्कर समुद्रके चन्द्रमाओंकी संख्या ११२०० जिसको चौगुना करनेसे ४४८०० हुए, इसमें उत्तर द्वीपके वलयोंके प्रमाण ६४ के दूने १२८ मिलानेसे उत्तरद्वीपके चंद्रमाओंका प्रमाण ४४९२८ होता है। इस ही प्रकार आगे भी सर्वत्र जानना। समस्त द्वीप समुद्रोंके समस्त चन्द्रमाओंका प्रमाण संख्यातसूच्यंगुलसे जगच्छ्रेणीको गुणाकार करनेसे जो गुणनफल हो, उसको जगत्प्रतरमेंसे घटानेसे जो अवशेष रहै, उसमें ६५५३६ को ५२९२००००००००००००००० से गुणाकार करनेसे जो प्रमाण हो, उतने प्रतरांगुलका भाग देनेसे जो लब्ध आवै उतना है। प्रत्येक चन्द्रमा (इन्द्र) के साथ एक एक सूर्य (प्रतीन्द्र) है। अठ्यासी अठ्यासी ग्रह, अठ्ठाईस अठ्ठाईस नक्षत्र और छ्यासठ हजार नौसे पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं। अर्थात् सूर्योंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणके समान है। ग्रहोंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे ८८ गुणित है। नक्षत्रोंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे २८ गुणित है। और तारोंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे छ्यासठ हजार नौसे पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी गुणित है।

अब आगे जम्बूद्वीपमें सूर्य और चन्द्रमाके गमनमें कुछ विशेष है, उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये चार क्षेत्रका वर्णन किया जाता है।

चन्द्रमा और सूर्यके गमन करनेकी गलियोंको चार क्षेत्र कहते हैं। समस्त गलियोंके समूहरूप चार क्षेत्रकी चौड़ाई ५१० ४८/६१ योजन है। जिस गलीमें एक चन्द्रमा वा सूर्य गमन करते हैं, उसीमें ठीक उसके सामने दूसरा चन्द्रमा या सूर्य गमन करता

है। इस चार क्षेत्रकी ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन चौड़ाईमेंसे १८० योजन तो जम्बूद्वीपमें हैं। और ३३०$\frac{४८}{६१}$ योजन लवणसमुद्रमें हैं। चन्द्रमाके गमन करनेकी १५ और सूर्यके गमन करनेकी १८४ गली हैं, जिन सबमें समान अन्तर है। ये दो-दो सूर्य वा चन्द्रमा प्रतिदिन एक२ गलीको छोड़ छोड़कर दूसरी२ गलीमें गमन करते हैं।

जिस दिन सूर्य भीतरी गलीमें गमन करता है, उस दिन १८ मुहूर्त (४८ मिनिटका एक मुहूर्त होता है) का दिन और १२ मुहूर्तकी रात्रि होती है। तथा क्रमसे घटते घटते जिस दिन बाहिरी गलीमें गमन करता है, उस दिन १२ मुहूर्तका दिन और १८ मुहूर्तकी रात्रि होती है। सूर्य कर्क संक्रांतिके दिन अभ्यन्तर वीथी (भीतरी गली) में गमन करता है। उस ही दिन दक्षिणायनका प्रारंभ होता है। और मकरसंक्रांतिके दिन बाह्य वीथीपर गमन करता है। उस ही दिन उत्तरायणका प्रारंभ होता है। प्रथम वीथीसे १८४ वीं वीथीमें आनेके १८३ दिन लगते हैं। तथा उस ही प्रकार अंतिम वीथीसे प्रथम वीथीपर आनेमें १८३ दिन लगते हैं। दोनों अयनोंके मिले हुए दिन ३६६ होते हैं। इसहीको सूर्यवर्ष कहते हैं।

एक सूर्य ६० मुहूर्तमें मेरुकी प्रदक्षिणा पूरी करता है। अथवा मेरुकी प्रदक्षिणारूप आकाशमय परिधिमें एक लाख नव हजार आठसौ गगनखण्डोंकी कल्पना करनी चाहिये।

इन खण्डोंमें गमन करनेवाले ज्योतिषियोंकी गति इस प्रकार है—चन्द्रमा एक मुहूर्तमें १७६८ खण्डोंमें गमन करता है। सूर्य एक मुहूर्तमें १८३० गगनखण्डोंको तय करता है। और नक्षत्र एक मुहूर्तमें १८३५ गगनखण्डोंको तय करते हैं। चन्द्रमाकी गति

सबसे मंद है, चन्द्रमासे शीघ्रगति सूर्यकी है, सूर्यसे शीघ्रगति ग्रहोंकी है, ग्रहोंसे शीघ्रगति नक्षत्रोंकी हैं। और नक्षत्रोंसे शीघ्रगति तारोंकी है। इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष चक्रका कथन किया। इसका सविस्तर कथन त्रैलोक्यसारसे जानना। इस प्रकार मध्यलोकका संक्षेपसे कथन करके अब आगे उर्ध्वलोकका संक्षिप्त निरूपण किया जाता है।

उर्ध्वलोक

मेरुसे उर्ध्वलोकके अन्ततकके क्षेत्रको उर्ध्वलोक कहते हैं। इस उर्ध्वलोकके दो भेद हैं—एक कल्प और दूसरा कल्पातीत। जहां इन्द्रादिकी कल्पना होती है, उनको कल्प कहते हैं। और जहां यह कल्पना नहीं है, उसे कल्पातीत कहते हैं। कल्पमें १६ स्वर्ग है—

१ सौधर्म, २ ईशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ ब्रह्मोत्तर, ७ लांतव, ८ कापिष्ट ९ शुक्र, १० महाशुक्र, ११ सतार, १२ सहस्रार, १३ आनत, १४ प्राणत, १५ आरण और १६ अच्युत।

इन सोलह स्वर्गोंमेंसे दो दो स्वर्गोंमें संयुक्त राज्य है। इस कारण सौधर्म ईशान तथा सनत्कुमार माहेन्द्र इत्यादि दो दो स्वर्गोंका एक एक युगल है। आदिके दो तथा अन्तके दो इस प्रकार चार युगलोंमें आठ स्वर्गोंके आठ इन्द्र हैं। और मध्यके चार युगलोंमें चार ही इन्द्र हैं। इसलिये इन्द्रोंकी अपेक्षासे स्वर्गोंके १२ भेद हैं। सोलह स्वर्गोंके ऊपर कल्पातीतमें तीन अधो ग्रैवेयक, तीन मध्यम ग्रैवेयक, और तीन उपरिम ग्रैवेयक, इस प्रकार नव ग्रैवेयक हैं। नव ग्रैवेयकके ऊपर नव अनुदिश विमान तथा उनके ऊपर पंच अनुत्तर विमान हैं।

इस प्रकार इस ऊर्ध्वलोकमें वैमानिक देवोंका निवास हैं।

सोलह स्वर्गोंमें तो इन्द्र सामानिक पारिषद आदि दश प्रकारकी कल्पना है। और कल्पातीतमें समस्त देवोंमें स्वामीसेवक व्यवहार नहीं हैं। इसलिये अहमिन्द्र हैं। मेरुकी चूलिकासे एक बालके (केशके) अन्तर पर ऋजु विमान है। यहांसे सौधर्म स्वर्गका प्रारम्भ है।

मेरुतलसे लगाकर डेढ़ राजूकी ऊंचाई पर सौधर्म ईशान युगलका अन्त है। उसके ऊपर डेढ़ राजूमें सनत्कुमार माहेन्द्र युगल है। उससे ऊपर आधे आधे राजूमें छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजूमें आठ युगल हैं। सौधर्म स्वर्गमें ३२ लाख विमान हैं। ईशान स्वर्गमें ढाई लाख, सनत्कुमारमें १२ लाख, माहेन्द्रमें ८ लाख, ब्रह्मब्रह्मोत्तर युगलमें ४ लाख, लांतवकापिष्ट युगलमें ५० हजार, शुक्र महाशुक्र युगलमें ४० हजार, सतार सहस्रार युगलमें ६ हजार और आनतप्राणत तथा आरण और अच्युत इन चारों स्वर्गोंमें सब मिलकर ७०० विमान हैं।

तीन अधोग्रैवेयकमें १११, तीन मध्यग्रैवेयकमें १०७ और तीन ऊर्ध्वग्रैवेयकमें ९१ विमान हैं। अनुदिशमें ९ और अनुत्तरमें ५ विमान हैं। ये सब विमान ६३ पटलोंमें विभाजित हैं। जिन विमानोंका ऊपरीभाग एक समतलमें पाया जाता है, वे विमान एक पटलके कहलाते हैं। प्रत्येक पटलके मध्य विमानको इन्द्रकविमान कहते हैं। चारों दिशाओंमें जो पंक्तिरूप विमान हैं, उनको श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। श्रेणिकोंके बीचमें जो फुटकर विमान हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं। प्रथमयुगलमें ३१ पटल हैं, दूसरे युगलमें ७, तीसरेमें ४, चौथेमें २, पांचवेमें १, छठेमें १, आनतादि चार कल्पोंमें ६, नवग्रैवेयकमें ९, नवअनुदिशमें १ और पंचानुत्तरमें एक पटल है। इन पटलोंमें असंख्यात असंख्यात योजनोंका अंतर है।

इन ६३ पटलोंमें ६३ इन्द्रकविमान हैं, जिनमें पहले इन्द्रकका नाम ऋजुविमान है, और अंतके इन्द्रकका नाम सर्वार्थसिद्धि है। सर्वार्थसिद्धि विमान लोकके अन्तसे १२ योजन नीचा है। ऋजुविमान ४५ लाख योजन चौड़ा है। द्वितीयादिक इन्द्रकोंकी चौड़ाई क्रमसे घटकर अन्तके सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रकविमानकी चौड़ाई एक लक्ष योजन है। प्रथम पटलमें प्रत्येक श्रेणीमें श्रेणीबद्ध विमानोंकी संख्या बासठ बासठ है।

द्वितीयादि पटलोंके श्रेणीबद्ध विमानोंकी संख्यामें क्रमसे एक एक घटकर बासठवें अनुदिश पटलमें एक एक श्रेणीबद्ध विमान है। और इस ही प्रकार अन्तिम अनुत्तर पटलमें भी श्रेणीबद्धोंकी संख्या एक एक है। समस्त विमानोंकी संख्यामेंसे इंद्रक और श्रेणीबद्ध विमानोंका प्रमाण घटानेसे प्रकीर्णक विमानोंका प्रमाण होता है। प्रथम युगलके प्रत्येक पटलमें उत्तर दिशाके श्रेणीबद्ध तथा वायव्य और ईशान विदिशाके प्रकीर्णक विमानोंमें उत्तर-इन्द्र ईशानकी आज्ञा प्रवर्तती है। शेष समस्त विमानोंमें दक्षिणेन्द्र सौधर्मकी आज्ञा प्रवर्तती है। जिन विमानोंमें सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा प्रवर्तती है, उन विमानोंके समूहका नाम सौधर्मस्वर्ग है। और जिन विमानोंमें ईशानेन्द्रकी आज्ञा प्रवर्तती है, उनके समूहको ईशान स्वर्ग कहते हैं।

इस ही प्रकार दूसरे तथा अन्तके दो युगलोंमें जानना। मध्यके चार युगलोंमें एक एक इन्द्रकी ही आज्ञा प्रवर्तती है। पटलोंके ऊर्ध्व अंतरालमें तथा विमानोंके तिर्यक अन्तरालमें आकाश है। नरककी तरह बीचमें पृथ्वी नहीं है। समस्त इन्द्रकविमान संख्यात योजन चौडे हैं। तथा सब श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन चौडे हैं और प्रकीर्णकोंमें कोई संख्यात योजन और कोई असंख्यात योजन चौडे हैं।

प्रथम युगलके विमानोंकी मोटाई ११२१, दूसरेकी १०२२, तीसरेकी ९२३, चौथेकी ८२४, पांचवेकी ७२५, छठेकी ६२६, सातवें और आठवेंकी ५२७, तीन अधोग्रैवेयककी ४२८, तीन मध्यम ग्रैवेयककी ३२९, तीन उपरिम ग्रैवेयककी २३० और नव अनुदिश और पंच अनुत्तर विमानोंकी मोटाई १३१ योजन है ।

प्रथम युगलके अंतिम पटलमें दक्षिण दिशाके १८ वें श्रेणीवद्ध विमानमें सौधर्मेन्द्र निवास करता है तथा दक्षिण दिशाके १५ वें श्रेणीवद्ध विमानमें ईशानेन्द्र निवास करता है ।

द्वितीय युगलके अंतिम पटलमें दक्षिण दिशाके १६ वें विमानमें सनत्कुमारेन्द्र तथा उत्तर दिशाके १६ वें विमानमें माहेन्द्र निवास करता है ।

तृतीय युगलके अन्तिम पटलमें दक्षिण दिशाके १४ वें विमानमें ब्रह्मेन्द्र, चतुर्थ युगलके अन्तिम पटलमें उत्तर दिशाके १२ वें विमानमें लांववेन्द्र, पांचवें युगलके अन्तिम पटलमें दक्षिण दिशाके दशवें श्रेणीबद्ध विमानमें शुक्रेन्द्र, छठे युगलके अन्तिम पटलमें उत्तर दिशाके आठवें श्रेणीवद्ध विमानमें सतारेन्द्र, तथा सातवें आठ युगलोंके अन्तिम पटलोंमें दक्षिण दिशाओंके छठे छठे विमानोंमें आनतेन्द्र और आरणेन्द्र, तथा उत्तर दिशाओंके छठे छठे श्रेणीवद्ध विमानोंमें प्राणत और अच्युत इन्द्र निवास करते हैं । इन समस्त विमानोंके ऊपर अनेक नगर वसते हैं । इनका सविस्तर कथन त्रैलोक्यसारसे जानना ।

लोकके अन्तमें एक राजू चौड़ी सात राजू लम्बी और आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी है । उस आठवीं पृथ्वीके बीचमें रूप्यमयी छत्राकार मनुष्य क्षेत्र समान गोल ४५ लक्ष योजन चौड़ी मध्यमें आठ योजन मोटी (अन्त तक मोटाई-

क्रमसे घटती हुई है) सिद्धशिला है। उस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातवलयमें मुक्त जीव विराजमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकका कथन समाप्त हुआ।

इस अधिकारको समाप्त करनेसे पहले इतना विशेष वक्तव्य है कि, आजकल हम लोगोंका निवास मध्यलोकके जम्बूद्वीप सम्बन्धी दक्षिण दिशावर्ती भरतक्षेत्रके आर्यखण्डमें है। इस आर्यखण्डके उत्तरमें विजयार्द्ध पर्वत है। दक्षिणमें लवण समुद्र पूर्वमें महागंगा और उत्तरमें महासिन्धु नदी है। भरतक्षेत्रकी चौड़ाई ५२६ ६/१९ योजन है। जिसके बिलकुल बीचमें विजयार्द्ध पर्वत पड़ा हुआ है। जिनसे भरतक्षेत्रके दो खण्ड हो गये हैं। तथा महागंगा और महासिन्धु हिमवन् पर्वतसे निकलकर विजयार्द्धकी गुफाओंमें होती हुई पूर्व और पश्चिम समुद्रमें जा मिली हैं, जिनसे भरतक्षेत्रके छह खण्ड हो गये हैं। इनका आकार इस प्रकार है—
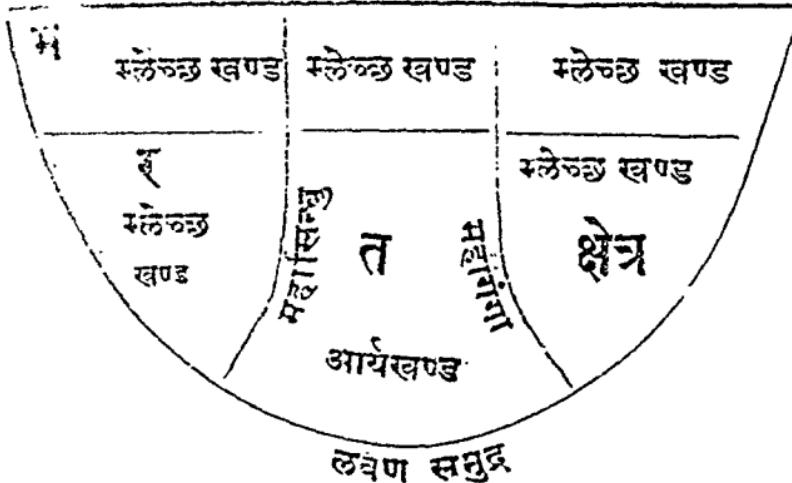
यह सब कथन प्रमाण योजनसे है। एक प्रमाण योजन वर्त-मानके २००० कोशके बराबर है। इससे पाठक समझ सकते हैं कि, आर्यखण्ड बहुत लम्बा चौड़ा है। चतुर्थकालकी आदिमें इस आर्यखण्डमें उपसागरकी उत्पत्ति होती है। जो क्रमसे चारों तरफको फैलकर आर्यखण्डके बहु भागको रोक लेता है। वर्तमानके एशिया, योरोप, आफ्रिका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये पाँचों महाद्वीप इस ही आर्यखण्डमें हैं। उपसागरने चारों ओर फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिन्दुस्तानको ही आर्यखण्ड नहीं समझना चाहिये। वर्तमान गंगा सिन्धु, महागंगा या महासिन्धु नहीं हैं।

इस प्रकार जैनसिद्धान्तदर्पणग्रन्थमें आकाशद्रव्यनिरूपण नामक छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवां अधिकार

कालद्रव्य निरूपण

कालद्रव्यके वर्णन करनेके पहले पहले इस बातका जानना अत्यन्त ही आवश्यक है कि "काल कोई परमार्थ पदार्थ है या नहीं ?" जिसके ऊपर ही इस प्रकरणके लिखनेका दारमदार है। जबतक कि मूल पदार्थ रूपी भित्ती—जिसका कि वर्णन करना है—सिद्ध न होगी तबतक उस विषयमें लेखनी उठाना आकाश कुसुमकी सुकुमारताके वर्णन करनेके मानिन्द निरर्थक है, इसलिये सबसे पहले कालद्रव्यके सद्भावकी ही सिद्धि की जाती है।

"कालोऽत्तिय ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो" संसारमें पद दो तरहके होते हैं—एक तो वे जिनका कि किसी दूसरे पदोंके साथ समास होता है और दूसरे वे जिनका कि दूसरे पदोंसे समास नहीं होता है। इन दोनों तरहके पदोंमें जो समस्त यानी दूसरे पदोंसे मिले हुए पद होते हैं, उनका वाच्य (जिसको कि शब्द जतलाते हैं) होता भी है और नहीं भी होता है।

जैसे राजपुरुषः (राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः) यह राज और पुरुष इन दो शब्दोंसे मिला हुआ एक पद है इसका वाच्य तो है और गगनारविन्दम् (गगनस्यारविन्दम्=गगनारविन्दम्) यह गगन (आकाश) और अरविन्द (कमल) इन दो शब्दोंसे मिला हुआ एक पद है, इसका वाच्य कोई आकाशका फूल नहीं है। परन्तु जो असमस्त यानी किसी दूसरे पदसे नहीं मिले हुए स्वतन्त्र पद होते हैं, उनका नियमसे वाच्य होता है। जैसे कि घट, पट इत्यादि पदोंका अर्थ कम्बुग्रीवादिमान्, आतानवितान-विशिष्टतन्तु आदि प्रसिद्ध है। उस ही तरह 'काल' यह भी एक

असमस्त पद कालके सद्भावको जतलानेवाले है और चूंकि उस काल द्रव्यका कोई कारण नहीं है इसलिये नित्य है।

अनादि निधनः कालो वर्तना लक्षणो मतः।
लोकमात्रः सुक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः ॥

इस संसारमें सर्वही द्रव्य अपने अपने द्रव्यता गुणकी वजहसे हरएक समयमें अपनी हालतें बदलते रहते हैं। कोई भी द्रव्य सर्वथा क्षणिक व कूटस्थ नित्य नहीं है। क्योंकि पदार्थको निरन्वय विनाश सहित प्रतिक्षणमें नष्ट होनेवाला और कूटस्थकी तरह हमेशा रहनेवाला माननेमें क्रमसे व युगपत् अर्थ क्रिया न होनेकी वजहसे परिणमनका अभाव हो जाता है। जिससे कि वस्तुत्वका अभाव आदि अनेक दूषण हो जाते हैं, जो कि यहां विस्तार या पौनरुक्त्य दोषकी वजहसे नहीं लिखे जा सकते हैं।

सारांश यह है कि अनन्त गुणोंके (जो कि पदार्थोंमें भिः भिन्न कार्योंके देखने मालूम होते हैं) अखण्ड पिंडको द्रव्य कहते हैं। उन अनन्त गुणोंमें एक द्रव्यत्व गुण भी है जिसकी कि वजहसे यह पदार्थ प्रतिक्षण किसी खास हालतमें नहीं रहता किंतु प्रति समय अपनी हालतें बदलता रहता है। इस तरह अपने अपने गुण पर्यायोंसे वर्तते हुए पदार्थोंका परिवर्तन करनेमें जैसे कि कुम्हारका चक्र (चाक) कुम्हारके हाथसे घुमाया हुआ उसके हाथ हटाने पर भी अपने आप भ्रमण करता है और उसके भ्रमण करनेमें उसके नीचे गड़ी हुई लोहेकी कीली सहकारी कारण है, उसही तरह सहकारी कारण कालद्रव्य हैं जो कि लोकमात्र हैं, अर्थात् जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं और लोकाकाशके बाहर काल द्रव्य नहीं हैं।

शंका—यदि कालद्रव्य सर्व द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी कारण है और जहां कहीं भी जो कुछ परिणमन होता है वह

काल द्रव्यकी वजहसे होता है तो लोकाकाशके बाहर अलोकाकाश जहां कि कालद्रव्य नहीं हैं वहां परिणमन होता है या नहीं? यदि नहीं होता तो अलोकाकाशमें द्रव्यत्वका अभाव होजायगा। यदि होता है तो कैसे?

समाधान—लोकाकाश तथा अलोकाकाश यह दो भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ नहीं हैं, वरन आकाश नामक एक अखंड पदार्थ है उसमें लोकाकाश-अलोकाकाश यह भेद, उपचार (जितने आकाशमें ५ द्रव्य हैं वह अलोकाकाश है) से ही है वास्तवमें नहीं, इस लिये जैसे सुहावने गुद्गुदे मुलायम चिकने मनोज्ञ पदार्थका संयोग एक जगह होता है।

परंतु सुखका अनुभव सर्वांग होता है जो कि प्रत्यक्ष तथा सब जगह रोमांच होनेसे मालूम होता है उसही तरह कालद्रव्य लोकाकाशमें ठहरता हुआ भी अलोकाकाशमें परिणमन होनेको निमित्त कारण है।

शंका—यद्यपि माना कि मुख्य कालद्रव्य सर्व द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी करण है परन्तु वह धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यके मानिन्द अखण्ड क्यों नहीं? अलग अलग रहनेवाले रत्नोंकी राशिकी तरह भिन्न भिन्न अणुरूप क्यों हैं?

समाधान—'मुख्यः कालोऽनेकद्रव्यं प्रत्याकाशप्रदेशं व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः हेत्वसिद्धिरितिचेन्न प्रत्याकाशप्रदेशं विभिन्नो हि व्यवहारकालः कुरुक्षेत्रलंकाकाशदेशयोर्दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः' मुख्य काल अनेक हैं, कारण कि प्रत्येक आकाशके प्रदेशोंमें व्यवहार काल भिन्न भिन्न रीतिसे होता है क्योंकि कुरुक्षेत्र लंकाके आकाश प्रदेशोंमें दिन आदिका भेद व्यवहार कालके भिन्न भिन्न हुए विना बन नहीं सकता।

यदि ऐसा न माना जाय तो सब जगह एक ही तरहका दिन वगैरह होना चाहिये और यदि कालको सर्वथा निरवयव

अखण्ड एक ही मान लिया जाय तो कालमें अतीतादि व्यवहार कैसे होगा? अतीतादि पदार्थोंकी क्रियाके सम्बन्धसे अथवा अपने आप?

यदि अतीत पदार्थोंकी क्रियाके सम्बन्धसे माना जाय तो पदार्थोंमें पहले 'अतीतादि' ऐसा व्यवहार कैसे होगा? यदि दूसरे अतीतादि पदार्थोंकी क्रियाके सम्बन्धसे मानोगे तो अनवस्था दूषण हो जायगा।

यदि अतीत कालके सम्बन्धसे मानोगे तो अन्योन्याश्रय दूषण हो जायगा। क्योंकि पदार्थोंके अतीतादि होनेसे कालमें अतीतादि व्यवहार होगा और कालके अतीतादि होनेसे पदार्थोंमें अतीतादि व्यवहार होगा।

यदि अपने आप ही अतीतादिरूपता होगी तो निरंशता और भेदरूपताका विरोध होनेकी बजहसे निरंशता नहीं रह सकती है।

शंका—समयरूप ही निश्चय काल है उससे भिन्न कोई अणुरूप कालद्रव्य नहीं है।

समाधान—समय है वह उत्पन्न और प्रध्वसी होनेकी वजहसे पर्याय है और जो पर्याय होती है वह द्रव्यके विना नहीं होती। जैसे कि कुम्हार चक्र चीवर आदि वहिरंग कारणोंसे उत्पन्न हुए मिट्टीके घड़े रूप पर्यायका उपादान कारण मिट्टी ही है और इस प्रकार समय, मिनट, घंटा आदिका कारणभूत द्रव्य भी कोई कालरूप अवश्य मानना चाहिये।

शंका—सैकेन्ड, मिनिट, आदिका उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है। किन्तु पुद्गल द्रव्योंके परमाणु वगैरह ही हैं। जैसे समयरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें मन्द गतिसे चला हुआ पुद्गल परमाणु है। निमेषरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें आंखोंके पलकोंका

गिरना उठना है। इस ही तरह दिनरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका बिम्ब उपादान कारण है।

समाधान—'उपादान कारणगुणा ही कार्यमनुवर्तन्ते' अर्थात् उपादान कारणके गुण कार्यमें आते हैं। जैसे मिट्टीके बने हुए घड़ेमें मिट्टीके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण आते हैं, उस ही तरह समय निमेष दिन आदिकका उपादान कारण यदि पुद्गल परमाणु–नयनपुटविघटन–सूर्यबिम्ब आदि पुद्गलपर्याय होते तो पुद्गल परमाणु–नयनपुटविघटन–सूर्यबिम्ब आदिमें रहनेवाले गुण, समय–निमेष–दिन आदिकमें आते, मगर ऐसा देखनेमें नहीं आता कि समय–निमेष–दिन आदिकमें रूपादि हों।

शंका—सैकेन्ड, मिनिट, घडी आदि व्यवहार काल ही काल है इसको छोडकर कालाणुरूप द्रव्य अन्य कोई मुख्य निश्चयकाल नहीं है।

समाधान—

मुख्यकल्पेन कालोऽस्ति व्यवहार प्रतीतितः।
मुख्यादृते न गौणोऽस्ति सिंहो माणवको यथा॥

सैकेन्ड, मिनिट, घडी आदि व्यवहार कालसे ही मुख्य कालका अस्तित्व होता है क्योंकि मुख्यके बिना गौण होता नहीं है। जैसे कि क्रौर्यादि गुण सिंहमें मुख्य रीतिसे पाए जाते हैं उन्हींका दूसरी जगह–बिल्ली आदिमें–उपचार किया जाता है। परन्तु जो स्वयं मुख्य पदार्थ नहीं उसका उपचार व व्यवहार दूसरी जगह नहीं होता। गधोंके सींगके सौन्दर्यका उपचार कहीं भी नहीं होता है। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थोंके परिवर्तनमें उदासीन निमित्त कारण, लोकके प्रदेश बराबर असंख्यात, मुख्य, नित्य कालद्रव्य सिद्ध हुआ। अब व्यवहार कालका निरूपण किया जाता है। ऊपर जो निश्चय कालद्रव्यका निरूपण कर आये हैं

उसकी पर्याय स्वरूप, समय, घडी, दिन वगैरह यही व्यवहारकाल है।

संसारमें यह बड़ा यह छोटा यह नवीन यह पुराना यह जल्दी हो गया यह देरीसे हुआ इत्यादि व्यवहार जो सर्वजन-प्रसिद्ध है इसलिये भी इसका कारणभूत व्यवहारकाल माना जाता है। इसीलिये ही 'परिणामादी लक्खो' अर्थात् वह व्यवहारकाल परिणामादि लक्ष्य कहिये परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व इत्यादिसे जाना जाता है, कहा है।

वर्षा ऋतुमें यद्यपि मेघ वरसते हैं परन्तु स्वाति नक्षत्रमें वरसे हुए मेघकी बून्दे ही सीपमें पड़कर मोतीरूप परिणमती हैं। अन्य कालमें वरसे हुए मेघकी बून्दे मोतीरूप नहीं परिणमती हैं। इसके अलावा 'किम्पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते' अर्थात् फल लगनेके कालमें क्या फूल बटोरे जा सकते हैं? नहीं! नहीं! फल कालमें फल और फूल लगनेके समयमें फूल मिल सकते हैं। इस ही तरह 'समय चूकि पुनि का पछताने' इत्यादि बातें विना कालके अस्तित्व सिद्ध किये नहीं रह सकती हैं। बस! इससे ज्यादा कहनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है यही प्रतीत सिद्ध जो काल है वह व्यवहारकाल है।

यह व्यवहारकाल समय, उच्छ्वास, घड़ी, प्रहर, दिनरात इत्यादि भेदवाला होते हुए उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी इन बड़े दो भागोंमें विभक्त है। अर्थात् जिस तरह बैलोंके द्वारा घुमाए हुए चक्रकी फिरनसे अरहटकी घडियाँ जिस समय जल व जलके प्रान्त भागमें रहती हैं भरी रहती हैं। और जिस समय ऊपरी भागमें आती हैं क्रमसे खाली होती हैं। और फिर बराबर इसी ही क्रमसे भरी और खाली होती हैं। इस ही तरह कालचक्रकी फिरनसे भरत, ऐरावत क्षेत्रमें रहनेवाले जीवोंकी

आयु, बल, शरीरकी ऊंचाई आदिमें हानि व वृद्धि होती रहती है। जिस समय इनकी क्रमसे वृद्धि होती जाती है, उस कालको उत्सर्पिणीकाल कहते हैं और जिस समय इनकी क्रमसे हानि होती जाती है उस कालको अवसर्पिणी काल कहते हैं। उत्सर्पिणी कालका प्रमाण दश कोड़ाकोड़ी सागर (दो हजार कोश गहरे और दो हजार कोश चौडे गढ्ढेमें कैंचीसे जिसका दूसरा खण्ड न हो सके ऐसे मेढेके बालोंको भरना, जितने बाल उसमें समावें उनमेंसे एक एक बाल सौ सौ वर्ष बाद निकालना। जितने वर्षोंमें वे सब निकल जावे उतने वर्षोंके जितने समय (जितनी देरमें मंद गतिसे चला हुआ एक परमाणु दूसरे परमाणुको उल्लंघन करै उसको समय कहते हैं) हों उसको व्यवहार पल्य कहते हैं।

व्यवहारपल्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपल्य होता है। उद्धार-पल्यसे असंख्यातगुणा अद्धापल्य होता है। दश कोड़ाकोड़ी (एक करोड़को एक करोड़से गुणा करने पर जो लब्ध हो उसको एक कोड़ाकोड़ी कहते हैं) (अद्धापल्योंका एक सागर होता है) है और इस ही तरह अवसर्पिणी कालका भी प्रमाण दश कोड़ाकोड़ी सागर है, इन दोनोंको ही मिलकर एक कल्पकाल कहते हैं।

इन दोनोंमें ही प्रत्येकके छह भेद (१ सुषमासुषमा २ सुषमा ३ सुषमादुषमा ४ दुषमासुषमा ५ दुषमा ६ दुषमादुषमा) हैं। ये कहे हुए भेद अवसर्पिणी कालके जानना। और ठीक इनके उलटे छह भेद (१ दुषमादुषमा २ दुषमा ३ दुषमासुषमा ४ सुषमादुषमा ५ सुषमा ६ सुषमासुषमा) उत्सर्पिणी कालके जानना। इन छहों नामोंमें समा शब्द समयका वाची है और सु, दु ये दोनों अच्छे व बुरेके कहलानेवाले दो उपसर्ग हैं इनकी मिलावट वगैरहसे ही ये छह शब्द सार्थक छह कालके वाची हैं।

इन छहों कालमेंसे देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्र (उत्तम भोगभूमि) में पहला काल, हरि-रम्यकक्षेत्र (मध्यम भोगभूमि) में दूसरा काल, हैमवत-हैरण्यवतक्षेत्र (जघन्य भोगभूमि) में तीसरा काल, और विदेहक्षेत्रमें चौथाही काल हमेशा रहता है। इनमें फेरफार नहीं होता है।

भरत-ऐरावत क्षेत्रमें पडे हुए पांच म्लेच्छखण्ड और विजयार्ध पर्वतकी प्रथम कटनी—विद्याधर श्रेणीमें दुषमासुषमाकी आदिसे लेकर अंतपर्यन्त अवसर्पिणीमें जीवोंकी आयु आदिकी हानि होती है। और उत्सर्पिणीमें सुषमादुषमाकी आदिसे लेकर उसहीके अंतपर्यन्त जीवोंकी आयु आदिमें वृद्धि होती है। देवगतिमें सुषमादुषमा मनुष्यगति तिर्यंचगतिमें छहों काल होते हैं। परन्तु कुमनुष्य भोगभूमिमें तीसरा और स्वयंभूरमण दीपके आधेभाग और स्वयंभूरमण समुद्रमें पांचवा काल वर्तता है और अढाई द्वीप व दो समुद्रोंसे बाहर सर्व द्वीप समुद्रोंमें तीसरा काल-जघन्य भोगभूमि रहती है।

पहिले काल (सुषमासुषमा) का प्रमाण कोडाकोडी सागर है इतने दिनोंतक उत्तम भोगभूमि रहती है। उस समयके मनुष्य व तिर्यञ्चोंकी आयु तीन पल्य, शरीरकी ऊंचाई तीन कोश, शरीरका वर्ण सुवर्णवर्ण होता है और बदरीफल यानी वैर प्रमाण सुस्वादु आहार तीन दिनके अन्तरसे करते हैं।

दूसरे काल (सुषमा) का प्रमाण तीन कोडाकोडी सागर है इतने दिनोंतक मध्यम भोगभूमि रहती है। उस समयके मनुष्य व तिर्यञ्चोंकी आयु २ पल्य शरीरकी ऊंचाई २ कोश शरीरका वर्ण शुक्ल होता है और बहेडाके बराबर सुस्वादु आहार दो दिनके अन्तरसे करते हैं।

तीसरे काल (सुषमा दुषमा) का प्रमाण १ कोडाकोडी सागर है। इतने दिनोंतक जघन्यभोगभूमि रहती है। उस समयके

मनुष्य व तिर्यञ्चोंकी आयु १ पल्य, शरीरकी ऊंचाई १ कोश, शरीरका वर्ण हरित होता है और आंवलेके बराबर सुस्वादु आहार १ दिनके अन्तरसे करते हैं। इन तीनों कालोंमें रहनेवाले जीव भोगभूमिया कहलाते हैं।

इन तीनों ही कालमें पैदा हुए जुगलिया (यानी वहां पुरुष स्त्रीका युगल—जोडा पैदा होता है इस लिये उनको जुगलिया कहते हैं) उत्पन्न होनेके बाद क्रमसे सात सात दिनोंमें यथाक्रम अंगूठेका चूसना—पेटके सहारे सरकना—पांवोंके बटनेके सहारे रेंगना—अच्छी तरह चलना फिरना—कला गुणको ग्रहण करना—यौवन प्राप्त करना—सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेकी शक्ति इन सात अवस्थाओंमें ४९ दिन व्यतीत कर दिव्य भोगोंको भोगते हैं जो कि उनको पूर्वोपार्जित पुण्योदयसे दश प्रकारके (मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, पानांग, आहारांग, पुष्पांग, गृहांग, ज्योतिरंग, वस्त्रांग, दीपांग) कल्पवृक्षोंके द्वारा प्राप्त होते हैं।

वे सबहीके सब वज्रवृषभनाराच संहननवाले महाबली धैर्यशाली पराक्रमी होते हैं। उनको अपनी आयुभर कभी भी रोग, बुढापा, थकावट, पीडा वगैरह नहीं होती है। वे आपसमें (स्त्री पुरुषमें पुरुष स्त्रीमें) अनुरागसहित होते हुए कभी भी आधि व व्याधिका नाम भी नहीं जानते हैं। वे स्वभाव सुन्दर, मनोज्ञ शरीरके धारण करनेवाले, नाममात्रको मुकुट, कुण्डल, हार, मेखला, कटक, अंगद, केयूर आदि अनेक सुन्दर सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित होते हुए चिरकालपर्यन्त मनोऽभिलषित स्वर्गीय आनन्दका अनुभव करते रहते हैं।

इस प्रकार बहुत कालतक अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुए सुखोंको भोगकर अपने आयुके अन्तमें पुरुष तो छींक लेते लेते और स्त्री जिंभाई लेते लेते शरद ऋतुके बादलोंकी भांति विलीन होकर शरीरको छोडकर देवगतिको प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कालचक्रका परिवर्तन होते होते तीसरे कालमें जब पल्यका आठवाँ हिस्सा बाकी रहा तब कालचक्रकी फिरन व जीवोंके क्षीण हीन पुण्यी होनेकी वजहसे धीरे धीरे कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे, शरीरकी कांति फीकी पडने लगी, कल्पवृक्ष थोडे फल देने लगे और उन्हीमेंके ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंकी मंदज्योति होनेकी वजहसे सायंकालके समय सूर्य चन्द्रमा व तारागण दीखने लगे।

पुनः क्रमसे जो भोले जन्तु पहले मानिन्द शिशुगणके प्यारे थे और इधर उधर वन उपवन आदिमें क्रीडा वगैरह करते थे, उन्हीं रींछ भेडिया व्याघ्रोंके द्वारा सताया जाना, सन्तानका मुख दीखना (पहले नहीं दीखता था क्योंकि सन्तानके उत्पन्न होते ही पितामाता स्वर्ग सिधार जाते थे) और फिर उनका कुछ कालतक जीना फिर जेरसे सन्तान होना आदि अनोखी अनोखी और दिलको दहेलने व चोट पहुंचानेवाली बातें होने लगीं, सब ही घबड़ाने लगे, एक तरह भोगभूमिकी काया ही पलटने लगी।

ऐसे ही समयमें क्रमसे प्रतिश्रुति आदि नाभिराय पर्यंत १४ कुलकर पैदा हुए जो कि सम्यग्दृष्टी क्षत्रिय कुलोत्पन्न (आगामी कालकी अपेक्षा अर्थात् जब वर्णव्यवस्था प्रारम्भ होगी उसमें क्षत्रियोंका जो भी कुलाचार वगैरह होगा उस ही तरहके ये इस ही समयमें थे इसलिये इनको क्षत्रिय कहा) पैदा हुए जिनमेंसे कोई अवधि ज्ञानी और कितने ही जातिस्मरण ज्ञानवाले हुए उन्होंने ही इन बिचारोंको (जिन्होंकी राज्यपदसे च्युत होकर दीन बनानेके हुक्म सुननेसे जो पुरुषकी हालत होती है हो रही थी) यथायोग्य सब भयके दूर करनेवाले उपाय व आनेवाले जमानेके सब समाचारोंको बतला जतलाकर निराकुल किये और इस

तरहके भयानक आपत्तिरूप समुद्रमें गोता लगानेवालोंको हस्तावलंबन देकर महान् उपकार किया ।

इस प्रकार होते होते अंतिम नाभिराय कुलकरके स्वामी-ऋषभनाथजीने जन्म लिया जो कि जन्मसे ही तीन (मति, श्रुत. अवधि) ज्ञानके धारी धैर्यशाली पराक्रमी सुडौल वज्रवृषभनाराच संहननके धारी प्रियहित मधुरालापी सर्व सुलक्षण सम्पन्न अतुलबली थे। इनकी शरीरकी ऊंचाई ५०० धनुष और आयु ८४ लाख पूर्व (पूर्वांगं वर्ष लक्षणामशी तिश्चतुरुत्तरा तद्वर्गितं भवेत्पूर्वं, अर्थात् ८४०००० लाख वर्षोंका एक पूर्वांग होता है और इसहीके वर्ग ८४००००×८४००००=७०५६०००००००००० को एक पूर्व कहते हैं) की थी इन्होंने गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें घबड़ाए हुए (जो कि पहले सर्व सुख सम्पन्न थे) प्राणियोंको सर्व तरह आस्वासन देकर कर्मभूमिकी रचना यानी पुर, ग्राम, पट्टणादि और लौकिक शास्त्र, लोक व्यवहार, दयामयी धर्म, असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा, शिल्पादि पट्कर्मोंसे आजीवका करना इत्यादि विधि बतलाई इसीलिये इनका नाम आदिब्रह्म विधाता है और कर्मभूमिकी सृष्टि रची इसीलिये सृष्टा भी कहते हैं।

फिर इन्होंने इस असार संसारकी असारता जान, इससे ममत्व त्याग, सर्व परिग्रहारम्भसे मोहजाल टाल, केवलज्ञान प्राप्त कर दिव्यध्वनि द्वारा अनादिकालसे संसारके स्वरूपको भूलकर भटकते हुए प्राणियोंको सच्चे सुखके मार्गका उपदेश देकर जगत्पूज्य पदवी प्राप्ति की।

इसही तरह बीच बीचमें हजारों वर्षोंके अंतरसे क्रमसे अन्य २३ तीर्थंकरोंने इस संसाररूपी मरुस्थलमें विषयाशारूपी मरीचिकासे भ्रमते हुए जीवमृगोंको धर्मामृतकी वर्षाकर संतृप्त किया।

सबसे अंतमें होनेवाले स्वामी वर्धमान–महावीरने भी इसही तरह संसाररूपी विकट अटवीमें कर्मचोरोंके द्वारा जिनका ज्ञानधन लुट गया ऐसे विचारे इधर उधर भटकते हुए प्राणियोंको तत्वोपदेश देकर सुमार्गमें लगाकर सर्वदाके लिये मोक्ष पदवीमें आसन जमाया। इन चौवीस तीर्थंकरोंके मध्यमें १२ चक्रवर्ती ९ नारायण ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र, ११ रुद्र, ९ नारद आदि पदवीधर मनुष्य होते हैं।

महावीरस्वामी जिस समय मुक्ति नगरीको पधारे उस समय चौथे कालमें ३ वर्ष ८॥ महीने बाकी थे। श्री वीरनाथ (महावीर) स्वामीके निर्वाण होनेके ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद विक्रमांक शकराजाकी उत्पत्ति हुई। उसके ३८४ वर्ष ७ महीने बाद चतुर्मुख नामका कल्की उत्पन्न हुआ, जो कि उन्मार्गगामी होता हुआ अपनी ७० वर्षकी उम्रके ४० वर्ष व्यतीत होनेपर राज्यासन पर अधिरूढ़ हुआ।

इस तरह राज्य करते हुए उसने अपने मन्त्रीसे पूंछा कि हे मन्त्रिन्! इस भूमण्डलमें ऐसा कोई भी है जो हमारे वशमें न हो? मन्त्रियोंने सविनय निवेदन किया कि जो निर्ग्रन्थ यथाशास्त्र भिक्षाभोजी मुनिराज हैं वे ही आपके आधीन नहीं हैं।

ऐसे मन्त्रियोंके वचन सुन फिर राजाने कहा कि नहीं, वे भी हमारे राज्यकालमें स्वतन्त्र नहीं रह सकते, वे जो भोजन करते हैं उसमेंसे भी हमारे हकका पहले पहल पाणिपुटमें रक्खा हुआ ग्रास ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार राजाके हुकुमके, डोंडी द्वारा जाहिर होनेपर, मुनिराज भोजनमें अन्तराय जान आहार छोड वनमें चले गये।

इस प्रकार राजाके अपराधको असुरपति नहीं सह सका और गुस्सेमें आकर उस राजाको वज्रायुधसे मारा जो कि

नरकमें बहुत कालतक असह्य वेदनाको सहता हुआ मौतके दिन पुरे करने लगा और उस राजाका अजितंजय नामका पुत्र उस असुरेन्द्रके भयके मारे अपनी चेलना नामकी रानीके साथ असुरेन्द्रकी शरणमें गया और देवेन्द्रके द्वारा जैन धर्मके महात्म्यको प्रत्यक्ष देखकर सम्यग्दर्शन (जैन धर्म ही सच्चा धर्म है इस हीसे आत्माका कल्याण हो सकता है ऐसी बुद्धि) ग्रहण करता हुआ। इस ही प्रकार एक२ हजार वर्षके बाद २० कल्की राजोंके हो जानेके बाद अंतमें सन्मार्गको समूल नष्ट करनेवाला जलमन्थ नामका कल्की होगा, उस कालमें भी इंद्रराज आचार्यका शिष्य वीरांगद नामका मुनि, सर्वश्री नामकी अर्जिका, अग्निल नामका श्रावक और पंगुसेना नामकी श्राविका, इस तरह ए चार धर्मके स्तम्भरूप चार पुरुषोत्तम रहेंगे।

उस समय वही जलमन्थ नामका कल्की, मुनिसे राजहक्क स्वरूप भोजनका पहिला पिंड ग्रहण करैगा, सो वे मुनि भोजनमें अंतराय जान वनमें जाकर तीन दिनका सन्यास धारण कर पंचम कालमें ३ वर्ष ८॥ महीने बाकी रहने पर कार्तिक मास स्वाति नक्षत्र पूर्वाह्न कालमें सल्लेखना मरण कर सौधर्म स्वर्गको प्राप्त होंगे और वे (अर्जिका, श्रावक, श्राविका). भी यथायोग्य आयुका प्राप्त कर देवगतिमें पधारेंगे।

बस! उसी दिनसे पुद्गल परमाणुओंमें अत्यन्त रूखापन होनेकी वजह अग्निका नाश, और धर्मके आश्रयभूत (मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका) के नाश हो जानेकी वजह धर्मका नाश, और असुरेन्द्रके द्वारा राजाका नाश हो जानेकी वजहसे सर्व ही मनुष्य वगैरह नंगे धर्मरहित होते हुये मछली आदिके खानेवाले हो जायेंगे। गरज ये कि इस दुनियामें अंधेर मच जायगा न किसीको धर्मका भय न राजाका भय रहेगा। जो जिसके दिलमें आयगा करेगा।

इस छट्टे कालमें मरे हुये जीव नरक—तिर्यग्गतिको जायेंगे और वहांसे निकले हुये जीव ही यहां जन्म लेंगे। इस जमानेमें जमीन, ऊसर निःसार तथा मेघ, कभी कभी वरसनेवाले और मनुष्य, तीव्र कषायी होंगे अब छट्ठे कालका अन्तिम भवितव्य दिखलाते हैं। छट्ठे कालके अन्तमें संवर्तक नामकी वायु चलती है, जिससे पर्वत वृक्षादिक चकनाचूर हो जाते हैं तथा बसनेवाले कुछ जीव मर जाते अथवा वेहोश हो मूर्छित हो जाते हैं।

उस समय विजयार्ध पर्वत तथा महागंगा और महासिन्धु नदियोंकी वेदियोंके छोटे छोटे विलोंमें उन वेदी और पर्वतके आसपास रहनेवाले जीव अपने ही आप घुस जाते हैं अथवा दयावान् देव और विद्याधर मनुष्य युगल आदि अनेक जीवोंको उठाकर विजयार्ध पर्वतकी गुफा वगैरह निर्वाध स्थानोंमें ले जाते हैं। इस छट्ठे कालके अन्तमें सात सात दिन पर्यंत क्रमसे १ पवन, २ हिम, ३ क्षाररस, ४ विष, ५ कठोर अग्नि, ६ धूलि, ७ धुवाँ इस प्रकार ४९ दिनमें सात वृष्टि होती हैं जिससे और वचे वचाये बिचारे मनुष्यादिक जीव नष्ट हो जाते हैं। तथा विष और अग्निकी वर्षासे पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूरचूर हो जाती है। इसहीका नाम महाप्रलय है। इतना विशेष जानना कि यह महाप्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके आर्यखण्डोंमें ही होता है अन्यत्र नहीं होता है। अब आगे उत्सर्पिणी कालका प्रवेशका अनुक्रम कहते हैं।

उत्सर्पिणीके दुःषमा दुःषमा नामक प्रथम कालमें सबसे पहले सात दिन जलवृष्टि, सात दिन दुग्धवृष्टि, सात दिन घृतवृष्टि और सात दिन तक अमृतवृष्टि होती है जिससे पृथ्वीमें पहले अग्नि आदिककी वृष्टिसे जो उष्णता हुई थी वह चली जाती है और पृथ्वी रसीली तथा चिकनी हो जाती है और जलादिककी वृष्टिसे नाना प्रकारकी लता वेल जड़ीबूटी आदि औषधि तथा

गुल्म वृक्षादिक वनस्पतिसे हरी भरी हो जाती है।

इस समय पहले जो प्राणी विजयार्ध पर्वत तथा गंगा सिन्धु नदीकी वेदियोंके विलोंमें घुस गये थे वे इस पृथ्वीकी शीतलता सुगन्धके निमित्तसे पृथ्वीमें आकर इधर उधर वस जाते हैं। इस कालमें भी मनुष्य धर्म रहित नंगे ही रहते हैं और मिट्टी वगैरह खाया करते हैं। इस कालमें जीवोंकी आयु कायादिक क्रमसे बढ़ते हैं। इसके पीछें उत्सर्पिणीका दुःषमा नामका काल प्रवर्तता है।

इस कालमें जव एक हजार वर्ष बाकी रह जाते हैं तब कनक, कनकप्रभ इत्यादि १६ कुलकर होते हैं ये कुलकर मनुष्योंको क्षत्रिय आदिक कुलोंके आचार तथा अग्निसे अन्नादिक पकानेकी विधि बतलाते हैं उसके पीछे दुःषमा दुःषमा नामका तीसरा काल प्रवर्तता है जिसमें त्रेसठशलाका पुरुष होते हैं। उत्सर्पिणीमें केवल इस ही कालमें मोक्ष होता है। तत्पश्चात् चौथे, पांचवें और छठेकालमें भोगभूमि हैं जिनमें आयुकादिक क्रमसे बढ़ते जाते हैं।

भावार्थ—अवसर्पिणीके १।२।३।४।५।६ कालकी रचना उत्सर्पिणी ६।५।४।३।२।१ कालकी रचनाके समान है। इतना विशेष जानना कि आयु काय आदिकी क्रमसे अवसर्पिणी कालमें तो हानि होती है और उत्सर्पिणी कालमें वृद्धि होती है। इस प्रकार यह कालचक्र निरन्तर ही घूमता रहता हैं जिससे कि पदार्थोंमें प्रति समय परिणमन होता रहता है यानी पदार्थ अपनी हालतें वदलते रहते हैं। इसलिये नहीं मालूम कि इस समयसे दूसरे समयमें क्या होनेवाला है? गया हुआ वक्त फिर नहीं मिल सकता है। इसलिये हमेशा ही अपने कर्तव्य कर्मको बहुत ही होशियारीके साथ जल्दी करना चाहिये।

इस प्रकार जैनसिद्धान्तदर्पण ग्रन्थमें कालद्रव्यनिरूपण नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

आठवां अधिकार

सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानं।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

अनेक मतोंका यह सिद्धान्त है कि इस सृष्टिका कर्ता हर्ता कोई ईश्वर अवश्य है। अतः इस विषयकी न्यायसे मीमांसा की जाती है। पूर्ण आशा, तथा दृढ विश्वास है कि सज्जनगण पक्षपातरहित हो इसपर समुचित विचारकर कल्याणमार्गके अन्वेषी होवेंगे।

प्रथम ही जैनमतका इस विषयमें क्या सिद्धान्त है इसका विवेचन करके सृष्टिकर्तृत्वपर मीमांसा प्रारम्भ की जायगी।

प्रश्न १—लोकका लक्षण क्या है ?

उत्तर—"लोक्यन्ते जीवादयो यस्मिन् स लोकः" अर्थात् जितने आकाशमें जीवादिक द्रव्य देखनेमें आते हैं, उसको लोक कहते हैं।

प्रश्न २—द्रव्यका सामान्य और विशेष लक्षण क्या है ?

उत्तर—जो सत् अर्थात् उत्पत्ति विनाश और स्थिति करके सहित हो उसे द्रव्य कहते हैं।

भावार्थ—जो एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको सदाकाल प्राप्त होता रहे उसे द्रव्य कहते हैं। उस द्रव्यकी अवस्था दो प्रकारकी हैं, एक सहभावी और दूसरी क्रमभावी। सहभावी अवस्थाको गुण कहते हैं क्रमभावीको पर्याय कहते हैं। और इस ही कारण गुणपर्यायवानपणा भी द्रव्यका लक्षण है। उस द्रव्यके ६ भेद हैं—१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म,

५ आकाश, ६ काल। १ जीव उसको कहते हैं जो चेतना सहित हो। २ पुद्गल उसको कहते हैं, जो स्पर्श रस गंध वर्ण करके युक्त हो। ३ जो जीव और पुद्गलको गमनमें सहकारी हो, उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। ४ जो जीव और पुद्गलको स्थितिमें सहकारी हों, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। ५ जो जीवादि पदार्थोंको अवकाश देवे, उसे आकाश कहते हैं। ६ जो जीव दिक पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी हो उसको कालद्रव्य कहते हैं।

प्रश्न ३—इन द्रव्योंके भेद, आकार और निवासस्थान क्या है ?

उत्तर—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक अर्थात् अखण्ड द्रव्य हैं। जीव अनंत हैं। पुद्गलके दो भेद हैं। एक अणु और दूसरा स्कंध। स्कंधके अनंत भेद हैं। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकव्यापी हैं और लोक ऊर्ध्व अधः १४ राजु, उत्तर दक्षिण ७ राजु, पूर्व पश्चिम मूल, मध्य व ब्रह्मान्त और अन्तमें ७।१।५ और ७ राजु हैं।

जीव और पुद्गलका निवासक्षेत्र लोक है, प्रत्येक संसारी जीवका आकार निजर शरीर प्रमाण है, मुक्त जीवोंका आकार किंचित् उन अन्तिम शरीर प्रमाण है। पुद्गलका आकार अनेक प्रकार है, काल लोकाकाशमें व्याप्त है। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं कालके भी उतने ही कालाणू हैं। एकर प्रदेशपर एकर कालाणू स्थित है। आकाशके जितने हिस्सेको पुद्गलका एक परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते हैं।

प्रश्न ४—जीवके मुख्य भेद प्रतिभेद कौन कौनसे हैं ?

उत्तर—जीवके मुक्त और संसारी दो भेद हैं, मुक्तजीव यद्यपि अनंत हैं परंतु सब सदृश हैं, संसारी जीवोंके पांच भेद हैं—

एकेन्द्री १, द्वीन्द्री २, त्रीन्द्री ३, चतुरिन्द्री ४, पंचेन्द्री ५, पंचेन्द्रीके दो भेद हैं–सैनी (मनसहित), असैनी (मनरहित); चतुरिन्द्रिय तक सब जीव असैनी है।—सैनीके चार भेद हैं—

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। देवोंके ४ भेद हैं—भवनवासी १, व्यन्तर २, ज्योतिषी ३ और कल्पवासी ४।

प्रश्न ५—संसारी और मुक्त इनके लक्षण क्या हैं?

उत्तर—संसारी उसको कहते हैं जो कर्मके निमित्तसे नरक, पशु, मनुष्य और देवात्मक चतुर्गति रूप संसारमें परिभ्रमण करता हो और जो कर्मका नाश करके संसारके परिभ्रमणसे छूटकर लोक शिखरपर विराजमान होकर समस्त दुःखवर्जित अनन्त और अविनाशी सुखका भोक्ता हो, उसे मुक्त जीव कहते हैं।

प्रश्न ६—कर्म किसको कहते हैं?

उत्तर—पुद्गलका एक स्कंधविशेष जिसको कि कार्माण वर्गणा कहते हैं जीवके राग द्वेषादिक परिणामोंको निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोंसे एक क्षेत्रावगाह होकर, उदय कालमें नाना प्रकारके दुःख देकर इस जीवको जो चतुर्गति रूप संसारमें परिभ्रमण कराता है उसको कर्म कहते हैं।

प्रश्न ७—ईश्वर किसको कहते हैं?

उत्तर—मुक्त जीवको ही ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध, खुदा, गॉड इत्यादि अनेक नामसे पुकारते हैं।

प्रश्न ८—तो क्या इन मुक्त जीवोंसे भिन्न कोई ईश्वर नहीं है? यदि ऐसा है तो इस लोकको किसने बनाया?

उत्तर—मुक्त जीवोंसे भिन्न कोई भी ईश्वर नहीं है, और न उसके अस्तित्वमें कोई प्रमाण है। लोक अनादिनिधन है।

प्रश्न ९—अभी तो ऊपर कह चुके हैं कि जो कोई ईश्वर नहीं हैं तो यह लोक किसने बनाया?

उत्तर—हम ऊपर कह चुके हैं कि जितने आकाशमें जीवादिक देखनेमें आते हैं उसको लोक कहते हैं।

भावार्थ—जीवादिक छह द्रव्यके समूहको 'लोक' ऐसी संज्ञा (नाम) है। सो द्रव्योंको बनानेवालेकी अथवा द्रव्योंके समूहरूप करनेवालेकी क्या आवश्यकता है? यदि कहोगे कि द्रव्योंके बनानेवालेकी आवश्यकता है तो वे पहिले थे या नहीं? यदि थे तो फिर उनके बनानेकी क्या आवश्यकता थी? यदि नहीं थे तो वे द्रव्य ईश्वरने विना उपादान कारणके कैसे बनाये? यदि कहोगे कि ईश्वर ही उनका उपादान कारण है तो उपादान कारणके गुण कार्यमें आते हैं इसलिये ईश्वरके सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व इत्यादि गुण इन द्रव्योंमें भी आने चाहिये, थे सो दीखते नहीं। इस कारण ईश्वर द्रव्योंका उपादान कारण कदापि नहीं है।

प्रश्न १०—ईश्वर लोकका उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है, और जीव और प्रकृति ये लोकके उपादान कारण हैं और लोक कार्य है। जैसे घट कार्य है कुम्भकार उसका निमित्त कारण है और मृत्तिका उपादान कारण है।

उत्तर—तो अब आपके कहनेका प्रयोजन यह ठहरा कि जो कार्य होता है उसका कोई कर्त्ता अवश्य होता है। जैसे घटका कर्त्ता कुम्भकार। सो लोक भी कार्य है इसलिये इसका भी कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये। क्यों, आपका कहना ऐसा ही है न?

प्रश्न ११—बेशक, हमारा कहना ऐसा ही है।

उत्तर—अब सबसे पहिले इस बातका विचार करना चाहिये, कि समस्त कार्यकर्ताके किये ही होते हैं कि कोई कार्य विना कर्ताके भी होता है? सो यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो मेघवृष्टि घासकी उत्पत्ति आदि अनेक कार्य विना कर्ताके भी होते दिखते हैं, इसलिए लोकरूपी कार्यके लिए कर्ताके निमित्त-पणेकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न १२—मेघवृष्टि और घासकी उत्पत्ति आदि कार्योंमें भी ईश्वर ही कर्ता है?

उत्तर—जगतमें कार्य दो प्रकारके हैं एक तो ऐसे हैं, कि जिसका कर्ता है जैसे घटका कर्ता कुम्भकार। दूसरे ऐसे हैं कि जिनका कर्ता कोई नहीं हैं, जैसे मेघवृष्टि घासकी उत्पत्ति इत्यादि। अब इन दो प्रकारके कार्योंमेंसे घटादिकका कर्ता देखकर जिनका कर्ता नहीं दीखता है, उनका कर्ता ईश्वरको कल्पना करते हो सो आपकी इस कल्पनामें हेतु क्या है?

यदि कहोगे कि कार्यपणा ही हेतु है तो यह बताइये कि यदि कार्य हो पर उसका कर्ता नहीं होय तो उसमें क्या बाधा आवेगी? यदि उसमें कोई बाधा नहीं आवेगी तो आपका हेतु 'शंकितव्यभिचारी' ठहरा। क्यों कि जिस हेतुके साध्यके अभावमें रहनेपर किसी प्रकारकी बाधा नहीं आवे उसको शंकित व्यभिचारी कहते हैं। जैसे किसीके मित्रके चार पुत्र थे और चारों ही श्याम थे। कुछ कालके पश्चात् उसके मित्रकी भार्या पुनः गर्भवती हुई, तब वह मनुष्य कहने लगा कि मित्रकी भार्याके गर्भवाला पुत्र श्यामवर्ण होगा। क्यों कि वह मित्रका पुत्र है, जो २ मित्रके पुत्र हैं, वे २ सब श्यामवर्ण हैं। गर्भस्थ भी मित्रका पुत्र है, इसलिए श्यामवर्ण होगा। परन्तु मित्रपुत्र यदि गौरवर्ण भी हो जाय तो उसमें कोई बाधक नहीं हैं, इस ही प्रकार यदि कार्यकर्ताके विना भी हो जाय तो उसमें बाधक कौन?

प्रश्न १३—यदि कर्ताके विना कार्य हो जायगा तो न्यायका यह वाक्य कि कारणके बिना कार्य नहीं होता है, मिथ्या ठहरेगा।

उत्तर—मिथ्या क्यों ठहरेगा? कार्य कारणके विना नहीं होता यह ठीक है परन्तु यदि कोई दूसरा ही पदार्थ कारण हुवा तो क्या हर्ज है। इसमें क्या प्रमाण है कि वह कारण ईश्वर ही है।

प्रश्न १४–प्रत्येक कार्यके वास्ते कोई बुद्धिमान निमित्त कारण अवश्य होना चाहिये, बुद्धिमान पदार्थ जगतमें या तो जीव है या ईश्वर है परन्तु किसी जीवकी ऐसी सामर्थ्य नहीं दीखती कि ऐसे लोकको वनावे। इसलिये लोकका बुद्धिमान निमित्त कारण ईश्वर ही है।

उत्तर—यदि लोकरूपी कार्यका निमित्त कारण कोई जड़ पदार्थ ही हो तो क्या हानि है?

प्रश्न १५—जड़ पदार्थके निमित्त कारण होनेसे कार्यकी सुव्यवस्था नहीं होती। लोक एक सुव्यवस्थित कार्य है। इसलिये निमित्त कारण बुद्धिमानका होना आवश्यक है।

उत्तर—यह लोक सुव्यवस्थित ही नहीं है। क्योंकि पृथ्वी कहीं ऊंची है कहीं नीची है। सुवर्ण सुगंध रहित है। इक्षु फल रहित है। चन्दन पुष्प रहित है। विद्वान् निर्धन और अल्पायु होते हैं। यदि ईश्वर इस लोकका कर्त्ता होता तो ऐसी दुर्व्यवस्था क्यों होती? यह कार्य तो मूर्ख सरीखे दीखते हैं। क्योंकि नीतिकारने भी ऐसा ही कहा है कि—

"गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदंडे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोपि न बुद्धिदो भूत्॥

अथवा जो ईश्वर सरीखा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और दयालु इस लोकका कर्ता होता, तो जगतमें कोई पाप नहीं होता। क्योंकि जिस समय कोई मनुष्य कुछ भी पाप करनेको उद्यमी होता है, तो ईश्वरको यह बात पहिलेसे ही मालूम हो जाती है क्योंकि वह सर्वज्ञ है। यदि मालूम नहीं होती है तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं ठहरेगा। फिर ईश्वर मनुष्यको पाप करनेसे रोक भी सकता है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है। यदि नहीं रोक सकता है तो सर्वशक्तिमान नहीं ठहर सकता है। यदि कहोगे कि "यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है परन्तु उसको क्या

गर्ज है कि वह उसको पाप करनेसे रोके? तो वह दयालु भी है कि जिससे उसका रोकना आवश्यक ठहरा।

जैसे कि एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यको मारनेके लिये चला और शहरके न्यायवान् राजाको यदि यह बात मालूम हो जाय तो उसका कर्तव्य यह है कि घातकको रोककर खून न होने देवे, न कि खून होनेपर घातकको दंड दे अथवा किसीका बालक भंगके नशेमें किसी अंधकूपमें गिरता हो तो उसके साथी पिताका फर्ज है कि उसको कूपमें न गिरने दे। न कि उसको कूपमें गिरने पर निकाल कर दंड दे। ठीक ऐसी ही अवस्था ईश्वर और मनुष्यके साथ है।

ईश्वरका कर्तव्य है कि मनुष्यको पाप न करने दे। न कि उसके पाप करनेपर उसको दंड दे। इसलिये यदि ईश्वर सरीखा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और दयालु इस लोकका कर्ता होता तो लोकमें किसी भी प्रकारके पापकी प्रवृत्ति नहीं होती परन्तु ऐसा दीखता नहीं है, इस कारण इस लोकका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। बस! इससे सिद्ध हुवा कि लोकरूप कार्यका कोई बुद्धिमान् निमित्त कारण नहीं है। अथवा ईश्वर और सृष्टिमें कार्य कारण सम्बन्ध ही नहीं बनता क्योंकि व्यापकका अनुपलम्भ है।

भावार्थ—न्यायशास्त्रका यह वाक्य है कि—

"अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभाव:"

अर्थात्–कार्य कारणभाव और अन्वयव्यतिरेकभाव इन दोनोंमें गम्य गमक याने व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। अग्नि और धूम इनमें व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य है। जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि नियम करके होगी। परन्तु जहाँ अग्नि है वहाँ धूम हो भी और नहीं भी हो। जैसे तप्त लोहेके गोलेमें अग्नि तो है परन्तु धूम नहीं है।

कहनेका भावार्थ यह है कि जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ

व्यापक अवश्य होता है, परन्तु जहाँ व्यापक होता है, वहां व्याप्य होता भी है और नहीं भी होता है। सो यहांपर कार्य-कारणभाव व्याप्य है और अन्वयव्यतिरेकभाव व्यापक है।

भावार्थ—जहां कार्यकारणभाव होगा वहां अन्वयव्यतिरेक अवश्य होगा परन्तु जहां अन्वयव्यतिरेकभाव है, वहां कार्यकारण हो भी और नहीं भी हो। कार्यके सद्भावमें कारणके सद्भावको अन्वय कहते हैं। जैसे-जहां जहां धूम होता है, वहां वहां अग्नि अवश्य होती है और कारणके अभावमें कार्यके अभावको व्यतिरेक कहते हैं, जैसे जहां जहां अग्नि नहीं है वहां वहां धूम भी नहीं है। सो जो ईश्वर और लोकमें कार्यकारणसंबंध है तो उनमें अन्वय-व्यतिरेक अवश्य होना चाहिये। परन्तु ईश्वरका लोकके साथ व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता क्योंकि व्यतिरेक दो प्रकारका है। एक कालव्यतिरेक दूसरा क्षेत्रव्यतिरेक। सो ईश्वरमें दोनों प्रकारके व्यतिरेकमेंसे एक भी सिद्ध नहीं होता है।

क्योंकि क्षेत्रव्यतिरेक जब सिद्ध हो सकता है जब यह वाक्य सिद्ध हो जाय कि जहां जहां ईश्वर नहीं है वहां वहां लोक भी नहीं है परन्तु यह वाक्य सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापी है अर्थात् ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहां ईश्वर नहीं हो, इसलिये क्षेत्रव्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कालव्यतिरेक भी ईश्वरमें सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कालव्यतिरेक तब सिद्ध हो जब यह वाक्य सिद्ध हो जाय कि जब जब ईश्वर नही है तब तब लोक भी नहीं है परन्तु यह वाक्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर नित्य है, अर्थात् कोई काल ही ऐसा नहीं है कि जिस समय ईश्वर नहीं हो, इसलिये ईश्वरमें कालव्यतिरेक भी सिद्ध नहीं हो सकता और जब व्यतिरेक सिद्ध नहीं हुआ तो कार्य-कारण भाव ईश्वर और लोकमें सिद्ध नही हो सकता

और जब कार्यकारण भाव ही नहीं तो ईश्वर लोकका कर्ता किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? जैन शास्त्रोंमें इस सम्बन्धमें अनेक प्रकारके पूर्वपक्ष उठाकर उनका सविस्तर खंडन किया है परंतु वह विषय बहुत गंभीर और विस्तृत है। इसलिए इस सम्बन्धको यहींपर समाप्त करके ईश्वरके लोककर्तृत्वमें अन्यान्य अनेक दूषणोंकी समालोचना की जायगी।

कर्तृत्ववादका पूर्वपक्ष

कर्तावादियोंका सबसे प्रबल प्रमाण ईश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध करनेके लिए यह है कि, पृथ्वी आदिक बुद्धिमत्कर्तृक (किसी बुद्धिमान्की बनाई) हैं, क्योंकि यह कार्य है। जो जो कार्य होते हैं सो सो बुद्धिमत्कर्तृक होते हैं, जैसे घटादिक। पृथ्वी आदिक भी कार्य हैं, इसलिए ये भी बुद्धिमत्कर्तृक हैं।

इस अनुमितिमें पृथ्वी आदिक पक्ष हैं, बुद्धिमत्कर्तृक साध्य हैं, कार्यत्व हेतु है, घटादिक दृष्टान्त हैं (अब आगे कर्त्तावादी कार्यत्व हेतुका समर्थन करता है)

"अब इस अनुमितिमें कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदिकमें कार्यत्व अनुमानान्तरसे सिद्ध है, तथाहि–पृथ्वी आदिक कार्य हैं, क्योंकि सावयव हैं। जो जो सावयव होते हैं, सो सो कार्य होते हैं जैसे घटादिक, पुनः यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि निश्चित कर्तृक जो घटादिक उनमें कार्यत्व हेतु प्रत्यक्ष सिद्ध है, फिर यह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचार) भी नहीं है। क्योंकि निश्चित अकर्तृक आकाशादिक उनमें अविद्यमान है, फिर कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष तथा आगमसे अबाधित विषय है। यहां पर कोई यह शंका करे कि—"उक्त अनुमतिमें जो घटादिक दृष्टांत हैं, उन घटादिकके जो कर्ता हैं वे अल्पज्ञ हैं, और तुम्हारे साध्यमें जो बुद्धिमान् है वह सर्वज्ञ है।

इसलिए तुम्हारा हेतु विरुद्ध है, क्योंकि साध्यसे विपरीतको साधन करता है, तथा दृष्टांत साध्य विकल है क्योंकि घटादिकका कर्ता सर्वज्ञ नहीं है। सो यह शंका भी निर्मूल है, क्योंकि साध्य साधनमें सामान्य अन्वय व्यतिरेक करके ही व्याप्तिका ग्रहण करोगे तो सकलानुमानका उच्छेद (अभाव) हो जावेगा, क्योंकि विशेष अनन्त होते हैं, और उनमें परस्पर व्यभिचार आवेगा।

इसलिए कार्यत्व हेतुकी बुद्धिमत्पूर्वकत्व मात्रके साथ व्याप्ति है न कि शरीरवान् बुद्धिमत्कर्तृक आदिके साथ। कदाचित कोई यह कहे कि, शरीर कारण कलापमेंसे एक सामग्री विशेष है। अर्थात् कार्यकी उत्पत्तिके अनेक कारणोंकी आवश्यकता है, उनमें शरीर भी एक कारण है। क्योंकि, जगतमें जितने कार्यके कर्ता दीखते हैं वे सब शरीरवान् दीखते हैं, सो ऐसा कहना भी अयुक्त है। क्योंकि, कार्यकारण सम्बन्ध वहीं पर होता है जहां अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है।

तदुक्तं—अन्वयव्यतिरेक गम्योहि कार्यकारण भावः सो कार्यका शरीरके साथ अन्वय और व्यतिरेक एक भी घटित नहीं होता। क्योंकि, जिस समय शरीरका हलनचलनरूप कार्य होता है उस समय उसमें केवल ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ही कारण है, अन्यथा शरीरान्तरकी कल्पना करनेसे अनवस्था दूषण आवेगा। इसलिये शरीरके अभावमें कार्यका सद्भाव हुआ। तथा शरीरके सद्भावमें परिज्ञान इच्छा व्यापारका अभाव हो तो कार्यका सद्भाव नहीं दीखता। इसलिये अन्वय व्यतिरेक एक भी घटित नहीं होते।

यदि सहचर मात्रसे शरीरको कारणता मानोगे तो अग्निके पतित्वादिक गुण भी धूमके प्रति कारण हो जावेंगे, यदि निर्मल बुद्धिसे विचारा जावे तो कार्यकी उत्पत्तिमें प्रथम कारण तो

कारणकलापका ज्ञान है, उसके पीछे दूसरा कारण उस कार्यके करनेकी इच्छा है और तीसरा कारण व्यापार है।

इन तीनोंका जो समुदाय है उसीको समर्थ कारण कहते हैं। यदि इनमेंसे एकका भी अभाव होगा तो कार्यकी उत्पत्ति नहीं होगी, ऐसा माननेसे सर्वत्र अव्यभिचार होता है।

अब हमारी इस अनुमितिके साध्यमें जो बुद्धिमान् है, सो सर्वज्ञ है, क्योंकि वह समस्त कार्योंका कर्ता है, जो जिस कार्यका कर्ता होता है, वह उस कार्यके कारण कलापोंका ज्ञाता होता है, जैसे घटोत्पादक कुलाल मृत्पिण्ड आदिका ज्ञाता है। यह जगतका कर्ता है, इसलिए सर्वज्ञ है। जगतका उपादान कारण पृथ्वी, जल, तेज, वायु सम्बन्धी चार प्रकारके परमाणु हैं और निमित्त कारण जीवोंका अदृष्ट है, भोक्ता जीव है, और शरीरादिक भोग्य हैं, जो इस सबका ज्ञाता नहीं होगा वह अस्मदादिककी तरह समस्त कार्योंका कर्ता भी नहीं हो सकता। उसके ज्ञानादिक अनित्य भी नहीं हैं, क्योंकि कुलालादिके ज्ञानसे विलक्षण हैं, और वह पृथिव्यादिकका कर्ता एक है। लोकमें भी यद्यपि किसी प्रासादादिकके बनानेमें अनेक सिलावट तथा मजदूरोंकी प्रवृत्ति होती है तथापि उन सबकी प्रवृत्ति एक मिस्त्रीके ज्ञानके आधीन है। यहां पर कदाचित् कोई यह शंका करे कि, जो ईश्वर नित्य और एकरूप है तो उसके कार्य भी नित्य और एकरूप होना चाहिये।

परन्तु जगत्के कार्य विचित्र और अनित्य दीखते हैं, सो यह शंका भी करना उचित नहीं है, क्योंकि जगत्के कार्योंकी उत्पत्तिमें केवल ईश्वर ही कारण नहीं है, किंतु कारणका एक देश है, जगतका निमित्त कारण जीवोंका अदृष्ट हम ऊपर कह चुके हैं। इसलिए निमित्त-कारणकी अनित्यता और विचित्रता होनेसे कार्यमें भी अनित्यता और विचित्रताकी संभावना है।

यहां फिर कोई शंका करे कि जो तुमने घट, कूप, प्रासाद आदिक दृष्टांत दिये हैं सो इनको देखकर उनके बननेकी क्रियाको न देखनेवालोंके भी ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि वह कार्य किसीके किये हुए हैं। परन्तु जगतको देखकर ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। इसलिए तुम्हारा यह हेतु असिद्ध है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह नियम नहीं है कि, जगतके समस्त कार्योंको उनके बननेकी क्रियाको न देखनेवालोंके 'ये किसीके किये हुये हैं' ऐसी बुद्धि अवश्य ही उत्पन्न होवे।

जैसे कि किसी स्थानपर एक गड्ढा था उसको कुछ आदमियोंने भरकर जमीनके बराबर कर दिया। तो जिस मनुष्यने उस गड्ढेको भरते नहीं देखा था उसके यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होती कि यह किसीका किया हुआ है। अब यहांपर फिर कोई शंका करे कि, तुम्हारा हेतु सत्प्रतिपक्ष है। क्योंकि इस अनुमानसे बाधित विषय है।

तथापि पृथ्वी आदिक किसी बुद्धिमान्की बनाई हुई नहीं है, क्योंकि उसका बनानेवाला किसीने देखा नहीं। जिस जिसका बनानेवाला किसीने नहीं देखा उसका बनानेवाला कोई बुद्धिमान कारण नहीं होता। जैसे आकाशादिक" सो यह भी समीचीन नहीं है।

क्योंकि जो पदार्थ दृश्य होता है, उसीकी अनुपलब्धिसे उसके अभावकी सिद्धि होती है। परन्तु ईश्वर तो दृश्य नहीं है इसलिये उसके अभावकी सिद्धि नहीं हो सकती। जो अदृश्य पदार्थकी अनुपलब्धिसे ही उसके अभावकी सिद्धि करोगे तो, किसी अदृश्य पिशाचके किये हुए कार्यमें पिशाचकी अनुपलब्धिसे पिशाचके अभावका प्रसंग आवेगा। इस प्रकारसे कर्त्तावादीने अपने पक्षका मंडन किया। अब इसका खण्डन किया जाता है।

कर्तृत्ववादके पूर्वपक्षका खण्डन

यहां पर जो "क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृजन्यं कार्यत्वात्" इस अनुमान द्वारा कार्यत्वरूप हेतुसे पृथि यादिको बुद्धिमत्कर्त्तासे जन्य, सिद्ध किया है सो इस कार्यत्वरूप हेतुके चार अर्थ हो सकते हैं, एक तो कार्यत्व अर्थात् सावयवत्व दूसरा पूर्वमें असत्पदार्थके स्वकारणसत्तासमवाय, तीसरा "कृत अर्थात् किया गया" ऐसी बुद्धि होनेका विषय होना, अथवा चतुर्थ विकारिपना। इन चार अर्थोमेंसे यदि सावयवत्वरूप अर्थ माना जावे तो इसके भी चार ही अर्थ हो सकते हैं। १ सावयवत्व अर्थात् अवयवोंमें वर्तमानत्व, २ अवयवोंसे बनाया गया, ३ प्रदेशिपना, ४ अथवा सावयव ऐसी बुद्धिका होना।

इन चार पक्षोंमें आद्यपक्ष अर्थात् अवयवोंमें वर्तमान होना माना जावे तो अवयवोंमें रहनेवाली जो अवयवत्व नामक (नैयायिकों कर मानी हुई) जाति उससे यह हेतु अनैकान्तिक-नामक हेत्वाऽभास हो जायगा। क्योंकि, अवयवत्व जाति अवयवोंमें रहनेपर भी स्वयं अवयवरहित और अकार्य है।

अर्थात् उस हेतुका विपक्षमें पाये जानेका नाम अनैकान्तिक दोष है। इसी प्रकार यह भी कर्तृविशेषजन्यत्वादि साध्यका विपक्ष जो नित्य जातिविशेष उसमें वर्तमान होनेसे अनैकांतिक दोषयुक्त सिद्ध हुआ। इससे यह हेतु कर्तृविशेषजन्यत्व साधनेमें आदरणीय नहीं हो सकता।

(प्रथम पक्षका प्रथम भेद) इस ही प्रकार सावयवत्व अर्थात् प्रथम पक्षका द्वितीय भेद अर्थात् अवयवोंसे बना हुआ, यह अर्थ स्वीकार किया जावे तो कार्यत्वरूप हेतु साध्यसम नामक दोष सहित मानना पड़ेगा। (यह भी एक पूर्ववत् हेतुका दोष है। जिससे कि हेतु साध्यसदृश सिद्ध होनेसे अपने कर्तृ-विशेषजन्यत्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता)

क्योंकि पृथिव्यादिकोंमें कार्यत्व अर्थात् जन्यत्व साध्य, और परमाण्वादि पृथिव्यादिकोंके अवयवोंसे बनाया गया रूप हेतु दोनों ही सम हैं, और साधन यदि साध्यके समान हो तो कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता। (कार्यत्व हेतुके प्रथम पक्षका द्वितीय भेद) प्रथम पक्षका तीसरा भेद अर्थात् प्रदेशवत्व माननेसे भी कार्यत्व हेतुमें आकाशके साथ अनैकान्तिक दोष आता है क्योंकि, आकाश प्रदेशवान् होकर भी अकार्य है। इसी प्रकार प्रथम पक्षके चतुर्थ भेदमें भी आकाशके साथ दोष आता है क्योंकि यह "सावयव" ऐसी बुद्धिका विषय होता है।

यदि आकाशको निरवयव माना जावे तो इसमें व्यापित्व धर्म नहीं रह सकता है, क्योंकि जो वस्तु निरवयव होती है वह व्यापी नहीं हो सकती तथा जो वस्तु व्यापी होती है वह निरवयव नहीं हो सकती। क्योंकि ये दोनों ही धर्म परस्पर विरुद्ध हैं।

इसका दृष्टान्त परमाणु निरवयव हैं, परमाणु निरवयव है इसीसे वह व्यापी नहीं है। अतः आकाश 'व्यापी' ऐसा व्यवहार होनेसे निरवयव नहीं है किन्तु सावयव ही है। अतएव तृतीय तत्व, चतुर्थ पक्ष माननेमें आकाशके साथ अनैकान्तिक दोष, हेतुमें आता है। इस प्रकार प्रथम पक्षके चारों अर्थोंमें दोष होनेसे चारों ही पक्ष अनादरणीय हैं।

इस दोषके दूर करनेको यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् "प्राक् असत् पदार्थके स्वकारणसत्तासमवायरूप कार्यत्वको हेतु माना जावे तो स्वकारणसत्तासमवायको नित्य होनेसे तथा कर्तृविशेषजन्यत्वादि" साध्यके साथ सर्वथा न रहनेसे यह हेतु असंभवी है, यदि पृथिव्यादि कार्योंके साथ इसका रहना मान ही लिया जावे तो पृथिव्यादि कार्यको भी इसी समान नित्य होनेसे बुद्धिमत्कर्तृ-जन्यत्व किसमें सिद्ध होगा? क्योंकि, नित्य पदार्थोंमें जन्यपना असंभव है। तथा कार्यमात्रको पक्ष होनेसे पक्षान्तःपाति जो

योगियोंके अशेष कर्मका क्षय उसमें कार्यत्वरूप हेतु नहीं घटित होनेसे इस हेतुमें भागासिद्ध भी दोष है। क्योंकि कर्मके क्षयको प्रध्वंसाभावरूप होनेसे स्वकारणसत्तासमवाय उसमें संभव नहीं हो सकता, क्योंकि स्वकारणसत्तासमवायकी सत्ता भाव पदार्थ हीमें हैं। यदि "किया हुआ है।"

इस प्रकारकी बुद्धिका जो विषय हो वह कार्यत्व है ऐसा कहते हो तो कार्यत्व हेतुका यह अर्थ भी करनेपर आकाशसे अनैकान्तिक दोष कार्यत्व हेतुमें आता है, क्योंकि पृथ्वी आदिके खोदनेपर तथा उत्सेचन करनेपर खड्डा होनेसे "आकाश किया है" ऐसी बुद्धि अकार्यरूप आकाशमें भी उत्पन्न हो जाती है। इसलिये यह अर्थ भी कार्यत्व हेतुका करनेसे छुटकारा नहीं है।

फिर भी सन्तोष न होनेसे कार्यत्व हेतुका "विकारित्व" ऐसा अर्थ करते हैं। लेकिन ऐसा अर्थ करनेपर उनके महेश्वर-पर्यन्त कार्यत्व हेतुका होना सम्भव होनेसे महेश्वरमें भी अनित्यताका प्रसंग प्राप्त हुआ है। क्योंकि सत् वस्तुका जो अन्यथा रूप होना उसीको कार्यत्व कहते हैं और हेतु भी विकारित्वरूप वही है, इसलिये जो अपर बुद्धिमत् शब्दसे महेश्वरको जगतका कर्ता सिद्ध करते थे उनको भी विकारित्व होनेसे उसका भी कर्ता अपर बुद्धिमान् कल्पना करना चाहिये। एवं जब अपर भी बुद्धिमान् कर्ता सिद्ध होगा तो उसको भी विकारीपना आनेसे उसके लिए भी तीसरा बुद्धिमान कर्ताकल्पना करना चाहिये।

इस प्रकार कहींपर भी पर्यवसान न होनेसे अनवस्था नामका दोष शिरपर आ पड़ता है। अनवस्थाका अर्थ यही है कि किसी वस्तुका सिद्ध करते करते भी अंत नहीं आना, और इसीलिए जिस पदार्थमें अनवस्था दोष होता है, वह पदार्थ सत्य तथा सिद्ध नहीं समझा जाता। इस दोषके होनेसे यदि महेश्वरको अविकारी समझ लिया जाय, तो उससे अपनी ड्यूटी (कार्योंका

कर्ता) अत्यन्त दुर्घट हो जायगा, क्योंकि अविकारित्व तथा कार्यकर्तृत्व ये दोनों ही धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए जहांपर अविकारित्व नहीं होता वहांपर ही कार्यकर्तृत्व संभव है। इसलिए अविकारित्व भी सिद्ध नहीं हो सक्ता।

इस प्रकार कार्यत्व हेतु अनेक प्रकार विचारने पर भी कार्यत्व हेतुको सिद्ध न होनेसे कार्यत्व हेतु यहाँ पर कुछ भी वस्तु नहीं है। तथा जो वस्तु कभी कभी होती है, वही वस्तु लोकमें कार्यत्वरूपसे समझी जाती है। जगत् तो महेश्वरके समान अर्थात् जिस प्रकार महेश्वर सर्वदा विद्यमान रहता है, इसलिये वह कार्य नहीं, इसी प्रकार जगत् भी हमेशा विद्यमान रहनेसे कार्य नहीं हो सकता। यदि "उसके अन्तर्गत तरु तृण, आदि वस्तुओंके कार्य होनेसे सत्समूह जगत्को भी कार्यता हो सकती है।"

ऐसा कहो तो महेश्वरके अन्तर्गत बुद्ध्यादिकोंको तथा परमाणु आदिके अन्तर्गत रूपादिकोंको कार्य होनेसे महेश्वर तथा परमाणु आदिको भी कार्य मानना पड़ेगा। ऐसा होनेसे महेश्वरादिकोंका दूसरा बुद्धिमान् कर्ता तथा उसका भी तीसरा, इस प्रकार जैसी पूर्वोक्तमें अनवस्था आती थी उसी प्रकार अब भी अनवस्था दोषका प्रसंग, तथा "महेश्वर ही सर्व वस्तुका कर्ता है" इस सिद्धांतका निधन भी मानना पड़ेगा।

अथवा थोडे समयके वास्ते जगत्को कार्यरूप मान भी लिया जाय, तथापि क्या कार्यत्व हेतुसे कार्यमात्र साध्य है? अथवा कोई कार्य विशेष? यदि कार्य मात्र विवक्षित हो तो कार्यरूप सामान्य हेतुसे बुद्धिमत्कर्तृत्वरूप विशेष साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती, जिससे कि ईश्वरकी सिद्धि हो सके। किन्तु सामान्य कर्ताकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि, सामान्य हेतुकी व्याप्तिसे सामान्य ही साध्यकी सिद्धि होती है, जैसे धूम सामान्यसे

वन्हि सामान्यका ही अनुमान हो सकता है। पर्वतीय चत्वरीय आदिका नहीं। इसलिये हेतु अकिञ्चित्कर है, अर्थात् प्रकृत अभीष्ट ईश्वररूप विशेष कर्ताका साधक नहीं हो सकता। (प्रकृत साध्यको जो सिद्ध नहीं कर सके उस हेतुको अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं। यह हेतुका एक मोटा दोष है) तथा साध्यसे विरुद्धका साधक होनेसे यह हेतु विरुद्ध भी है (विरुद्ध भी एक हेतुका दोष है। इसके होनेसे भी हेतु आदरणीय नहीं हो सकता है) तथा कार्यत्व हेतु जो सामान्य है वह बुद्धिमत्कर्ताका गमक नहीं हो सकता। किन्तु जो कार्यत्व कृतबुद्धिको पैदा करनेवाला है वही बुद्धिमत्कर्त्ताका गमक हो सकता है। यदि सारूप्य मात्रसे (कार्यत्वरूपसे सादृश्य मानकर) बुद्धिमत्कर्ताका गमक माना जावे तो बाष्पको भी अग्निके जनानेमें मानना पडैगा। इसी प्रकार महेश्वरमें भी संसारी पुरुषोंकी आत्माका सादृश्य होनेसे आमत्व हेतुसे सांसारिकत्व, किञ्चिद्ज्ञत्व, तथा अखिल जगतका अकर्तृत्व मानना पड़ेगा। क्योंकि, आक्षेप तथा समाधान दोनों ही तुल्य हैं।

इसलिये धूमबाष्पका किसी अंशसे सादृश्य होनेपर भी कोई ऐसा विशेष है जिससे धूम ही वह्निका गमक हो सकता है, बाष्प नहीं। इसी प्रकार क्षित्यादि कार्य तथा उससे उलटे (जिनसे कि बुद्धिमत्कर्ताका भान हो सके) कार्योंमें भी कोई विशेषता माननी चाहिये जिससे कि, वे ही बुद्धिमत्कर्ताके गमक हो सकते हैं। सामान्यरूपसे सर्व ही नहीं।

कथित सर्व कार्य, कर्तृजन्य नहीं है इसीसे सर्व कार्यका कर्ता न होनेसे ईश्वरकी सिद्धि कर्तृस्वरूपसे नहीं हो सकती।

यदि द्वितीयपक्ष अर्थात् प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवाय (प्रथम असत् पदार्थके स्वकारणसत्ताका समूह) ऐसा कार्यत्वशब्दका अर्थ माना जावे तो हेतु-कार्यत्व-असिद्ध हो जायगा, क्योंकि, तादृश-

कार्यविशेषका अभाव है अर्थात् प्रथम असद्भूत पदार्थके स्वकारण-सत्ताका समूह असंभव है, यदि सद्भाव माना जाय तो जीर्णमकान आदि देखनेसे जिस प्रकार उसकी क्रिया नहीं देखनेवालेको भी 'कृत' इसप्रकार बुद्धि हो जाती है तथैव यावत् कार्योंके देखनेसे कार्योंमें 'कृत' ऐसी बुद्धि होनी चाहिये परन्तु होती नहीं है। इसलिये यावत्कार्य ही प्राग् असत्के स्वकारणके समूह नहीं है।

यदि कहा जाय कि समारोप अर्थात् संशयादि दोषसे "कृत" ऐसी बुद्धि नहीं होती तो दोनों ही जगह अविशेष है अर्थात् "कृत" ऐसी बुद्धिके विषय जीर्ण मकानादि तथा जिनके देखनेसे "कृत" बुद्धि नहीं होती ऐसे पर्वतादिक ये दोनों ही कार्योंके कर्त्ता अप्रत्यक्ष हैं फिर एक जगह (पर्वतादिमें) संशयादिसे 'कृत' बुद्धि नहीं होती तथा जीर्ण प्रासादादिमें 'कृत' बुद्धि हो जाती है यह कहना नहीं बन सकता है क्योंकि कार्यत्व रूपसे दोनों ही समान है।

यदि कहो कि, प्रामाणिक पुरुषोंको तो इसमें (पर्वतादिमें) भी 'कृत' बुद्धि है ही, तो पूछना चाहिये कि, इसी अनुमानसे 'कृत' बुद्धि हुई है अथवा अनुमानान्तरसे, यदि इसीसे हुई है ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि, जब कार्यत्व यावत् पदार्थों में सिद्ध हो जावे तब कृतबुद्धि सिद्ध हो तथा कृतबुद्धि सिद्ध होनेपर कार्यत्व हेतु सिद्ध हो इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है। (अन्योऽन्याश्रय दोषवाले पदार्थ यथार्थ नहीं माने जाते।) यदि दूसरे अनुमानसे मानी जाय तो उस अनुमानकी भी सिद्धि कृतबुद्धि उत्पादकत्वरूप विशेषण विशिष्ट हेतु सिद्ध होनेसे ही हो सकती है, तथा कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप विशेषण उससे अन्य अनुमान द्वारा सिद्ध होगा, इस प्रकार फिर भी अनवस्था दोष आ पड़ता है। इसलिए कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप

विशेषण सिद्ध नहीं हो सकता। विशेषण नहीं होनेसे विशेषणा-सिद्धत्व दोष हेतुमें आ पड़ता है।

कचड़े मट्टी आदिसे भर दिये गये खड्डेके देखनेसे जिसप्रकार कृतक पुरुषोंके हृदयमें कृतबुद्धिका उत्पाद नहीं होता इसी प्रकार पर्वतादिकोंमें भी कार्य होनेपर भी कृतबुद्धि नहीं होती, ऐसा जो कहा था सो भी युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँपर (खड्डे आदिकोंमें) इधर उधर अकृत्रिम जो भूभाग कृतबुद्धिके उत्पन्न होनेके वाधक मौजूद है उसके रोकनेसे वहांपर कृतबुद्धि नहीं होती, परन्तु इस प्रकार पृथ्वी पर्वतादिकोंमें तुम अपने सिद्धान्तानुसार कोई वाधक नहीं वतला सकते इसलिये स्वमतकी अपेक्षा तुम्हारे ऊपर दोष सवार ही है अर्थात् पूर्वोक्त दृष्टान्तसे आप निर्वचन नहीं कर सकते, क्योंकि आपके मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थ कृत्रिम ही हैं फिर किस प्रकार तथा कौन वाधा कर सकता है? यदि भूधरादिकोंको अकृत्रिम ही मान लिया जाय तो सिद्धांतका अर्थात् आपके मतका विघात होता है।

इस प्रकार कृतिबुद्धिकी किसी प्रकार भी उत्पत्ति नहीं हो सकनेसे हेतुमें विशेषणासिद्धत्व दोषका आघात होता है। अर्थात् कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप जो विशेषण कार्यत्व हेतुका होना चाहिये सो नहीं वन सकता। इसीलिए विशेषणासिद्धि दोष है, अथवा किसी प्रकार थोड़ी देरके वास्ते विशेषणकी सिद्धि भी मान ली जाय तो भी यह हेतु, जिस प्रकार उदाहरणरूप घटमें शरीरादि सहित ही कर्ता होता है, इसी प्रकार क्षित्यादिकोंका भी कर्ता शरीर आदि विशिष्ट ही सिद्ध हो सकेगा। इसलिए अशरीर और सर्वज्ञ ऐसे ईश्वरके सिद्ध करनेके वदले सशरीर तथा असर्वज्ञको सिद्ध करनेसे साध्यसे विरुद्धका साधक होनेसे विरुद्ध है।

शंका—इस प्रकार दृष्टांत तथा दार्ष्टान्तमें परस्पर यदि समा-

नता देखी जावे तो सर्वत्र ही हेतु नहीं बन सकते, इसलिए कार्यकारण भाव मात्रसे ही व्याप्ति करनी चाहिये तथा इसीमें दृष्टान्त भी है यावद्धर्मोंसे समानता नहीं।

उत्तर—ऐसा कहना सर्वथा ठीक नहीं है क्योंकि धूमसे अनुमान करते समय महानस (रसोईगृह) तथा इतर सर्वत्रकी अग्निके साथ सामान्यरूप ही व्याप्ति की जाती है।

शंका—इसी प्रकार सामान्यरूप बुद्धिमत्कर्तृत्व मात्रसे ही लिया जावे तो काम चल सकता है अतः हेतु विरुद्ध नहीं है।

उत्तर—जिन जिन दृश्य आधार विशेषोंमें हेतु दृष्ट हो उन्हीं उन्हीं आधार विशेषोंकी सामान्य रूपतामें कार्यत्वहेतु माना जा सकता है। जो आधार विशेष अदृश्य है वह आधार हेतुके आधार सामान्यमें गर्भित नहीं हो सकता। यदि ऐसा भी किया जाय तो अतिप्रसंग होगा अथवा खरविषाणकी भी सिद्धि महिषविषाणवत् हो जायगी। जिसप्रकार यहाँपर अदृश्य विशेषाधार होनेसे खर-विषाण नहीं माने जाते इसी प्रकार ईश्वर भी अदृश्य विशेषाधार होनेसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं मानी जा सकती किंवा यह हेतु ईश्वरमें नहीं जा सकता। (फलित) यादृशकारणसे जिस प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति दिखती है वैसे ही कार्यसे वैसे ही कारणकी उत्पत्ति अनुमानद्वारा अनुमित करनी चाहिये!

जिस प्रकार यावद्धर्मात्मक वह्निसे जितने धर्मविशिष्ट धूमकी उत्पत्ति दिखती है दृढ प्रमाणसे तादृश धूमसे तादृश ही वह्निकी अनुमिति करनी चाहिये इस कहनेसे, विशेषरूपसे व्याप्तिग्रह नहीं किया जाता क्योंकि, ऐसा करनेसे कोई भी अनुमान नहीं बन सकता ऐसा एकान्तरूपसे कहनेवाला निराकृत किया जाता है (फलित) दृश्यविशेषाधारोंमें हेतुको सामान्य रूपसे ही मानने पर भी अदृश्य विशेषाधारमें हेतुकी

सत्ता नहीं मानी जा सकती इसलिये ईश्वर अदृश्य विशेषाधार है ततः अशरीर तथा सर्वज्ञानमय ऐसे सर्व दृश्याधारोंसे विलक्षण ईश्वरकी कर्तृता वन नहीं सकती, किन्तु कार्योंकी कर्तृता दृश्य विशेषाधार तथा सशरीर असर्वज्ञ ऐसे कुम्भकारादिमें ही वन सकती है।

जगतमें कार्य दो प्रकारके देखे जाते हैं। कुछ तो बुद्धिमत् कर्ताओं द्वारा किये हुये यथा घटादिक, तथा कुछ कार्य तद्विपरीत अर्थात् स्वतः प्रभव, जिस प्रकार स्वतउत्पन्न तरुतृण आदि, कार्यत्व हेतु दोनों ही कार्योंको पक्ष करनेसे व्यभिचारी है। यदि व्यभिचार नहीं माना जाय तो "दूसरे पुत्रोंके समान मित्रका गर्भस्थ पुत्र भी श्याम होगा उसीका पुत्र होनेसे" इस अनुमानको भी सच्चा मानना पड़ेगा तथा इसका हेतु भी गमक कहा जा सकता है इसी प्रकार कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं होगा क्योंकि, जहाँ जहाँ हेतुमें व्यभिचार है वे सभी हेतु पक्षीभूत हो सकते हैं। यदि ईश्वरसे अन्य कोई बुद्धिमान कर्ता कल्पित किया जाय तो अनवस्था आती है।

इसीप्रकार कालात्ययापदिष्टनामक दोष भी आवेगा क्योंकि स्वत उत्पन्न तरुतृणादिकोंमें कर्ताका अभाव प्रत्यक्ष ही है। जिसप्रकार अग्निमें अनुष्णता सिद्ध करते समय द्रव्यत्वादि हेतु प्रत्यक्षसे बाधित हो जाते हैं क्योंकि, प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमानकी अपेक्षा विशेष प्रमाण है, इसी प्रकार स्वतउत्पन्न तरुआदिकोंमें कर्ताका अभाव प्रत्यक्ष होनेसे प्रबल प्रत्यक्षद्वारा कार्यत्वरूप हेतु बाधित होनेसे ईश्वरमें तरुतृणादिका कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि तृणादिकार्योंमें अदृश्य ईश्वर ही कर्ता माना जाय तो क्या हर्ज है? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि, उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं है तो कर्ता है या नहीं यह कल्पना तो दूर ही रही। उस ईश्वरका सद्भाव इसी द्वारा मानते हो अथवा अन्य प्रमाणसे?

यदि इसी द्वारा माना जाय तो चक्रक नामक दोष आता है। (यह अन्योन्याश्रयके समान है, यह अन्योन्योंमें रहता है यह तीनपर स्थिर रहता है) वह दोष इस प्रकार है—

इस अनुमानसे सिद्ध हुए ईश्वरके सद्भावमें ईश्वरके अदृश्यनेपर अनुपलम्भ (अप्रत्यक्ष) सिद्ध हो तथा इसके अदृश्यत्व सिद्ध होनेपर "कालत्यायपदिष्ट" हेतुदोष (तरुतृणादिमें कर्तृत्वाभाव प्रत्यक्ष होनेसे कार्यत्वहेतुमें जो दोष बतलाया गया है वह) निवारण हो सके और कालात्ययापदिष्ट दोष दूर होनेपर ईश्वरसद्भाव सिद्ध हो इस प्रकार ईश्वरसद्भाव सिद्धि होनेपर इसका अनुपलम्भ अदृश्यत्व द्वारा सिद्ध हो इत्यादि पुनः वह उसके आधीन, इस प्रकार एककी सिद्धिमें परस्परकी अपेक्षा रहनेसे इसी प्रमाणसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रमाणान्तरसे सत्ता सिद्ध की जाय सो भी बन नहीं सकता क्योंकि, उसकी सत्ताका आवेदक दूसरा प्रमाण ही नहीं है अथवा आग्रहसे माना भी जाय तो सिद्धान्तका विघात होगा।

"तुष्यतु दुर्जनः" न्यायसे किसी प्रकार क्षण मात्रके वास्ते अदृश्य पदार्थोंमें ईश्वरका सद्भाव ही मान लिया जाय तो भी इसमें अदृश्यपना क्यों है? क्या उसके अदृश्य होनेमें शरीराभाव (अर्थात् शरीर नहीं होनेसे) किंवा विद्याका बल (सामर्थ्य) अथवा जातिविशेष कारण है? अर्थात् कोई जाति ही ईश्वरकी ऐसी है कि, दृष्टिगत नहीं हो सके। यदि ईश्वरके अदृश्य होनेमें शरीराभाव ही कारण माना जाय तो ईश्वरमें कर्तृता युक्तिसंगत नहीं हो सकती क्योंकि मुक्तात्माओंके सदृश शरीर रहित होनेसे अर्थात् जिस प्रकार मुक्तात्मा जीव अशरीर होनेसे वे कर्त्ता नहीं हो सकते इसी प्रकार अशरीर ईश्वरमें भी कर्तृता नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि अपने शरीर बनानेमें ज्ञान इच्छा प्रयत्नके आश्रयपनेसे ही कर्तृता जिस प्रकार देखी जाती है

तथैव ईश्वरमें भी शरीर नहीं होनेपर कर्तृता, केवल ज्ञानेच्छा-प्रयत्नाधारतासे ही सिद्ध हो सकती है। सो यह कहना असंगत है, क्योंकि शरीर सम्बन्ध होनेपर ही ज्ञानेच्छादिमें शरीर करनेकी प्रेरणा है शरीराभावमें नहीं।

यदि शरीराभावमें भी प्रेरणा मानी जाय तो मुक्तात्माओंको भी प्रेरणा होनी चाहिये। फलित, शरीर सम्बन्धवाले ही ज्ञानादिकोंके साथ कार्य कारणत्व व्याप्ति है। शरीरको अन्यथा सिद्ध माननेपर भी प्रतिज्ञात सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि शरीराभावमें ज्ञानादिकी उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं है, ज्ञानादिकी उत्पत्तिमें शरीर कारण है। यदि शरीराभावमें भी ज्ञान माना जाय तो मुक्तात्माओंको भी ज्ञान हो जायगा, ऐसा होनेपर सिद्ध नष्ट होता है।

इसलिये शरीर होने पर ही ज्ञानादि होते हैं तभी शरीरादिकी कर्तृता हो सकती है ततः अशरीरमें कर्तृता नहीं बन सकती। विद्यावल आदि अदृश्यतामें हेतु माना जाय तो कभी तो दिखाई पड़नी ही चाहिये क्योंकि विद्याधरोंके अदृश्य होने पर भी सर्वदा अदृश्यता नहीं पाई जाती कभी दृश्य भी होते हैं।

जिस प्रकार पिशाचादि विद्यावलसे अदृश्य होने पर भी कभी कभी दिखते भी हैं। जातिविशेष भी अदृश्यतामें कारण नहीं हो सकता क्योंकि, जाति अनेकोंमें रहनेवाली होनेसे एकमें जातिविशेष सम्भव ही नहीं हो सकता (तदुक्तमीश्वरत्वं न जातिरिति) अस्तु थोड़े समयके वास्ते अदृश्य भी मान लिया जाय तो भी क्या सत्व मात्रसे ही क्षित्यादिकर्तृता ईश्वरमें है किंवा ज्ञानवान् होनेसे, किंवा ज्ञानाश्रय होनेसे, अथवा ज्ञानपूर्वक व्यापार होनेसे, अथवा ईश्वरता होनेसे ? सत्तामात्ररूपसे कर्त्ता माननेमें कुलालादि भी जगतके कर्ता हो सकते हैं क्योंकि सत्तामात्र समान ही है। ज्ञानवान होनेसे जगत्कर्ता माना जाय तो योगी

ी जगत्कर्ता हो सकते हैं, क्योंकि वे भी ज्ञानवान् हैं। ज्ञानका आश्रय होनेसे ईश्वरमें कर्तृता मानी जाय तो भी बन नहीं सकती क्योंकि ज्ञानाश्रयता ही नहीं है तो उस हेतुसे कर्तृतासिद्धि कैसी, विना शरीर ज्ञानाश्रयता नहीं हो सकती यह पूर्वमें कह चुके है। ज्ञानपूर्वक व्यापार होनेसे कर्तृता मानना भी उचित नहीं क्योंकि व्यापार काय, मन, वचनके आश्रय है तथा काय, मन, वचन अशरीरके सम्भव नहीं, अतएव ज्ञानपूर्वक व्यापार भी नहीं बन सकता।

ऐश्वर्य होनेसे कर्ता माना जाय तो क्या ऐश्वर्य अर्थात् ज्ञातापना अथवा कर्तापना किंवा दूसरा ही कुछ ? यदि ज्ञातापना तो भी क्या सामान्य ज्ञातापना ही किंवा कुछ विशेष ? यदि सामान्य ज्ञातापना ही कर्तृत्वमें हेतु माना जाय तो हम भी हो सकते हैं। यदि ज्ञानविशेष भी माना जाय तो ज्ञानविशेषसे उसमें सर्वज्ञता आ सकती है। ईश्वरता कार्यकर्तृत्वमें क्या इससे हो सकती है ? यदि कर्तापना ही ऐश्वर्य माना जाय तो ऐसा ऐश्वर्य कुम्भकारोंमें भी समान है ईश्वरमें ही क्या विशेष, जो उसको जगत्कर्ता मानना कुम्भकारको नहीं। अन्य भी कोई ऐश्वर्य हेतु नहीं हो सकता क्योंकि इच्छा प्रयत्नको छोड़कर अन्य कोई ऐश्वर्य साधन ईश्वरमें है ही नहीं ! इच्छा प्रयत्न भी निम्नकथनसे बन नहीं सकते। तथा हि—इन दोषोंपर दृष्टि मन्द करनेपर भी अन्य प्रश्न उपस्थित होते हैं वे ये—क्या ईश्वरकी जगत् निर्माण करनेमें यथारुचि प्रवृत्ति होती है ? या मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मोंके परवशपनेसे किंवा करुणासे या क्रीड़ासे अथवा निग्रह अनुग्रह करनेके वास्ते या स्वभावसे ही ? यदि विना इच्छाके यथारुचि ही प्रवृत्ति मानी जाय तो कदाचित् दूसरे प्रकार भी (अन्यथा भी) बननी चाहिये। कर्म परवशतासे मानी जाय तो ईश्वरकी स्वतन्त्रता पलायमान होती है। करुणासे मानी जाय तो

ईश्वर सर्वशक्तिमान् होनेसे सर्वदा सर्व जीव सुखी ही रक्खे दुःखी क्यों देखे जाते हैं?

यदि कहा जाय कि "ईश्वर इसमें क्या करें? प्राणी पूर्वोपार्जित कर्मोंके परिपाकसे दुःखका अनुभव न करते हैं।" तो मनुष्योंके पूर्वोपार्जित कर्मोंसे ही कार्यकी सिद्धि होते हुये भी ईश्वरको कर्ता कल्पित करना निष्प्रयोजन है।

क्योंकि कर्मके वशीभूत ही माननेसे जगत्की उत्पत्ति प्रलय सुख दुःख आदि धर्मोंका विकार द्रव्योंमें उत्पन्न होना संभव है। इसलिए करुणासे ईश्वरका जगत् निर्माण करना कदापि प्रमाणसंगत नहीं हो सकता। यदि चतुर्थ पंचम पक्ष अर्थात् क्रीड़ाकारित्व तथा निग्रहानुग्रह करनेका प्रयोजन ये दो पक्ष उसको उत्पत्तिमें कर्त्ता वनके हेतु माने जाय तो वीतरागता तथा द्वेषाभाव ये दोनों धर्मोका मानना ईश्वरमें नहीं वन सकता क्योंकि क्रीड़ा करनेवाला होनेसे ईश्वरमें रागका सद्भाव मानना पड़ेगा जिस प्रकार वालक क्रीड़ा करता है इसलिये वह उस समय राग सहित समझा जाता है। एवं अनुग्रह करनेवाले राजाके समान अनुग्रह कर्त्ता होनेसे भी रागवान् हो सकता है। तथा निग्रहका विधाता होनेसे द्वेषवान् भी ईश्वर मानना पडेगा यथा राजा, इसलिये पूर्वोक्त दोषग्रामका आराम वन जानेसे कर्तृता निर्दोष ईश्वरको सदोष वनानेवाली समझ कोई भी अङ्गीकार नहीं कर सकता।

यदि ईश्वरका स्वभाव ही कर्तृरूप माना जाय तो क्या दोष है? इस प्रश्नका उत्तर यदि स्वभावतः ही कर्त्ता माना जाय तो जगत्में भी स्वभाव माननेसे उत्पत्ति आदि जगत्की संभव होने पर भी असंभव तथा अदृष्ट ईश्वरकी कल्पना कहांतक सत्य है यह पाठकोंकी वुद्धि पर निर्भर करते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि, जगत्में यह स्वभाव नहीं हो सके और ईश्वरमें सम्भव

हो सके। यदि यह स्वभाव ही है तो कौन किसमें रोक सकता है (तदुक्तं स्वभावोऽतर्कगोचरः) इस प्रकार कार्यत्व हेतुको सर्वतः विचारने पर भी बुद्धिमान् ईश्वरको कर्त्ता मान नहीं सकता। इसी प्रकार सन्निवेष विशेष अचेतनोपादानत्व अभूत्वाभावित्व, इत्यादिक अन्य भी हेतु आक्षेप समाधान समान होनेसे ईश्वरको कर्त्ता सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

क्षित्यादिकोंको बुद्धिमत्कर्तासे जन्य बनानेके लिये बतलाये पूर्वोक्त हेतुओंमें पूर्वोक्त दोषोंके अतिरिक्त अन्य प्रकार भी दोषोंकी उद्घाटना हो सकती है तथाहि, पूर्वोक्त हेतु कुलालादि दृष्टान्तोंसे सशरीर असर्वज्ञ असर्वकर्तृत्व आदि विरुद्ध साधक होनेसे विरुद्ध हैं। यदि वह्निके अनुमानमें भी कहा जाय कि, इतने विशेष धर्मोंकी समानता मिलने पर वह्निका भी अनुमान नहीं बन सकेगा सो यह कहना वह्निके अनुमानमें दोषोत्पादक नहीं, क्योंकि वह्निविशेष महानसीय पर्वतीय वनोत्पन्न तृणोत्पन्न तथा पर्णोत्पन्न आदि सभी वह्नि कहींपर प्रत्यक्ष होनेसे सर्व वह्निमात्रमें धूमको व्याप्त निश्चय करनेसे धूम सामान्य ही सामान्य वह्निका अनुमापक हो सकता है तथा सर्व कार्योंमें बुद्धिमत्कर्तृता उपलब्ध नहीं होती जिससे कि कार्यत्वहेतुको यावत्कार्य विशेषसे व्याप्त मानकर कार्यत्व हेतुकी बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्वके साथ व्याप्ति मान सकें। यदि कहो कि सर्व जगत् ही उपलब्ध है तो उसका बुधिमत्कर्तासे उत्पन्न होना कैसे उपलब्ध कर सकते हैं?

अतएव विना अवधारण किये भी कहींपर कार्यको कर्तासे जन्य देखकर सर्वत्र कार्यत्व हेतुकी बुद्धिमत्कर्तृजन्यताके साथ व्याप्ति मान लेते हैं। उसका उत्तर—उपलब्ध क्षितिपर्वत आदि अनेक कार्योंमें कर्तृविशेषका अभाव देखते हुए कार्य मात्रके दो विभाग कल्पना करने चाहिये। एक तो बुद्धिमत्कर्ताओंसे जन्य

यथा घटादि दूसरे वृक्ष, वन, पर्वत आदि–जो किसी अन्यसे उत्पन्न नहीं हुए किन्तु स्वतः ही उत्पन्न तथा विलीन होते हैं।

इस प्रकार यदि सर्व दृश्य पदार्थोंमें कर्तृजन्यता उपलब्ध होती तो अदृश्य पदार्थोंमें भी कल्पना करना कदाचित् सम्भव होता परन्तु दृश्य कार्योंमें ही दो विभाग देखते हुए एक विभाग लेकर व्याप्ति बनाना मान्य नहीं हो सकता है। ये हेतु व्यभिचारी भी हैं क्योंकि विद्युत् आदि कार्योंका प्रादुर्भाव बुद्धिमत्कर्ताके विना ही होता है। जो हेतु लक्ष्यसे अधिक देशमें निकल जाता है वह व्यभिचारी कहा जाता है। यहाँपर भी यह कार्यत्वहेतु अपने लक्ष्यमात्र जो बुद्धिमत्कर्तृजन्य पदार्थ उनसे बहिर्भूत जो विना कर्त्ताके जन्य विद्युत् आदि कार्य उनमें फैल जाता है। तथा स्वप्नादि अवस्थामें बुद्धिमत्कर्ताके विना ही जो कार्य उत्पन्न होते हैं उनमें व्याप्त होनेसे भी अलक्ष्यमें गमन करनेसे व्यभिचारी है। एवं प्रत्यक्ष आगम बाधित विषयमें प्रवृत्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट नामक दोषसे भी ये हेतु दुष्ट हैं। एवं प्रकरणगतचिन्ता उत्पादक हेत्वन्तर दीखनेसे प्रकरणसम नामक दोष सहित भी ये हेतु हो सकते हैं। तथापि ईश्वर जगतका कर्ता नहीं हो सकता, उपकरण (सामग्री) रहित होनेसे, यथा चक्रदण्ड सूत्र आदि उपकरण रहित कुलाल घटादि कार्योंका कर्ता नहीं हो सकता। उपकरणका अभाव ईश्वरके प्रसिद्ध ही है। एवं व्यापक होनेसे भी तथा एक होनेसे भी कार्योंके कर्ता नहीं हो सकता। आकाशादि जिस तरह व्यापक तथा एक होनेसे कार्योंके कर्ता नहीं हो सकते एवं ईश्वरमें भी एकत्व तथा व्यापकता है, अतएव कार्योंका कर्ता नहीं हो सकता। नित्य होनेसे ईश्वरको उपकरण आदिकी आवश्यकता नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि ईश्वरमें नित्यता ही नहीं बन सकती है। यह आगे दिखाया जाता है।

यदि कहा जाय कि, ईश्वरको नित्य होनेसे कुलालवत् दृष्टांत

नहीं हो सकता, सो भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वरमें नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती। तथाहि—क्षित्यादि कार्योंके करनेके समयमें स्वभावका भेद संभव होनेसे ईश्वर नित्य नहीं हो सकता क्योंकि जो प्रच्युत न हो तथा उत्पन्न न हो स्थिर हो एक स्वभाव ही सदा रहे और कूटस्थ हो अर्थात् सर्वदा-अविनाशी रहे उसको नित्य कहते हैं। ईश्वर ऐसा कदापि सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो सर्वदा सृष्टिके संहार तथा उत्पत्ति आदि कार्योंका करनेवाला है वह एक स्वभाववाला कैसे रह सकता है।

यदि सदा एक स्वभाववाला ही माना जाय तो उत्पत्ति तथा नाश आदि विरुद्ध कार्योंका कर्त्ता नहीं बन सकता। यदि ईश्वरके ज्ञानादि गुण ही नित्य मानें जांय सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान भी हमारे समान होनेसे नित्य नहीं माना जा सकता। नित्य माननेमें प्रतीति नहीं बनती तथा "ईश्वरज्ञान नित्य नहीं है। ज्ञानत्व होनेसे अस्मदादिज्ञानवत्" इस अनुमानसे भी विरोध है इस कथनसे ईश्वर ज्ञान नित्य है ऐसा जो वादीने प्रथम कहा था वह परास्त हुआ। ऐसा ही श्लोकवार्तिकालंकारमें कहा है—

" बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् ।
इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाकारणं भुव ॥ "

इति। ईश्वरको कर्त्ता माननेवालोंके मतमें ईश्वरकी सर्वज्ञता सिद्धि भी नहीं होती। यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे मानी जाय तो प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे सम्बद्ध पदार्थका ही ग्रहण करता है। यदि अनुमानसे मानी जाय सो भी ठीक नहीं क्योंकि अनुमानमें अव्यभिचारी लिंगकी जरूरत होती है, यहांपर कोई अव्यभिचारी हेतु ही उपलब्ध नहीं है जिससे अनुमान हो सके। जगत्की विचित्रता ही हेतु माना जाय अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ है, जगत्की विचित्रता अन्यथा असंभव होनेसे इस प्रकार सर्वज्ञकी सिद्धि

मानी जाय सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि सर्वज्ञके विना जगत्की विचित्रता नहीं हो सके तो ईश्वर सर्वज्ञकी कल्पना करना उचित है, परन्तु जगत्की विचित्र उत्पत्ति तो जीवोंके शुभाऽशुभ कर्मके परिपाकसे हो सकती है। फिर भी ईश्वरके विना जगत्की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय?

भावार्थ—उसके विना ही जगत्की उत्पत्ति होनेसे अविनाभावी हेतु सर्वज्ञ साधक कोई नहीं हुआ जिससे कि, सर्वज्ञसिद्धि हो। तथा यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो जिनका पीछेसे विनाश करना पडता है अर्थात् ईश्वरका भी अपमान करनेवाले ऐसे असुरोंको तथा हम लोगोंको जिनका पीछेसे विनाश करना पडता है—किसलिये बारवार बनाता है इस पूर्वापरविरोधसे जाना जाता है कि, परकल्पित ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है। एवं ईश्वर सर्वज्ञ है तथा सृष्टिका कर्त्ता है तो यावत्कार्यों के अन्तर्गत यावत् शास्त्रोंकी भी रचना उसकी आज्ञासे ही होती है।

अतः विरुद्ध आचरण करनेवाला कोई भी शास्त्र नहीं हो सकता तथापि ईश्वरकर्तृत्वके विरुद्ध बोलनेवाले प्रतिपक्षी खडे होते हैं। क्या उत्पत्तिकालमें ऐसा ज्ञान नहीं था कि, यह रचना हमारे ही स्वरूपके टुकडे टुकडे करनेवाली होगी। यदि कर्मपारवश्यसे रचना मानी जाय तो कर्म परवशतासे ही हो सकती है फिर भी ईश्वरमें कर्तापनेका पुंछला क्यों लगाया जाता है। स्वभावोऽतर्कगोचरः। वस्तुका स्वभाव तर्कगोचर नहीं है परंतु प्रबल प्रमाणसे जो बाधित हो जाता है वह स्वभाव नहीं माना जा सकता। तदुक्तम्।

वक्तर्यऽनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि-तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्॥

(आप्तमीमांसा)